दयानंद कला महाविद्यालय, लातूर

हिंदी विभाग

बी ए द्वितीय वर्ष

सत्र : तृतीय (SEC)

पेपर का नाम : ." साहित्य तथा व्यावसायिक कौशल भाग 1" HHINSC -1201

डॉ. मीना घुमे

Edit with WPS Office

Swami Ramanand Teerth Marathwada University, Nanded

Faculty of Humanities in Hindi (VSC/SEC)

Semester - III

Paper Code : HHINSC1201, Title **साहित्य तथा व्यावसायिक कौशल -भाग-1**

Curriculum Details: (for 2 Credits)

Module No.	Unit No.	Name of Topic	Hrs. Required to cover the contents 1 Hrs.=60 M.
1.0		हिंदी नाटक का सैद्धांतिक पक्ष	07
	1.1	नाटक की अवधारणा	
	1.2	नाटक के तत्व	
2.0		नाटक और रंगमंच	07
	2.1	रंगमंच का स्वरूप	
	2.2	रंगमंच के प्रकार	
3.0		रंगमंच	08
	3.1	मंच सज्जा, प्रेक्षागृह और दर्शक	
	3.2	अभिनय के प्रकार	
4.0		नाटक तथा नेपथ्य	08
	4.1	श्रंगार, वेशभूषा	
	4.2	संगीत, ध्वनि और प्रकाश	
		Total	30

संदर्भ ग्रंथ सूची

1) श्री बाबूलाल शुक्ल-नाट्यशास्त्र,चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
2)सीतारानी पालीवाल - रंगमंच नया परिदृश्य वाणी-प्रकाशन
3)लक्ष्मीनारायणलाल - रंगमंच और नाटक की भूमिका, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस ,दिल्ली
4)प्रियंका मिश्र -नाटक और रंगमंच विमर्श- साहित्य संचय, दिल्ली,
5) डी. भगवती लाल - संस्कृत नाटक और रंगमंच शिवालीक प्रकाशन
6) डॉ. सीताराम झा -नाटक और रंगमंच,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना
7) कल्पना मिश्रा-नाटक, लोक नाटक और रंगमंच,रिपरो बुक लिमिटेड, मुंबई
8) डॉ.विनीता रानी -हिंदी रंगमंच, श्री नटराज प्रकाशन ,दिल्ली
9)डॉ. गिरिश रस्तोगी - नाटक तथा रंग-परिकल्पना, विश्वविद्यालय, प्रकाशन वाराणसी
10) डॉ. दशरथ ओझा-हिंदी नाटक उद्भव और विकास,राजपाल एंड अॅन्ड संस,दिल्ली

1.0 हिन्दी नाटक का सैद्धान्तिक पक्ष

नाटक : अर्थ एवं स्वरूप

'नाटक' संस्कृत शब्द 'नट' से बना है, जिसका अर्थ होता है 'अभिनय करना'। नाटक एक ऐसी साहित्यिक विधा है जो अभिनय

Edit with WPS Office

के माध्यम से जीवन की घटनाओं, संघर्षों, भावनाओं एवं सामाजिक प्रसंगों को मंच पर प्रस्तुत करती है। इसमें संवाद, अभिनय, दृश्य, मंच, पात्र आदि के माध्यम से कथा को जीवन्त रूप दिया जाता है। नाटक एक साहित्यिक विधा है जो कथानक, पात्रों, संवाद और अभिनय के माध्यम से जीवन के विभिन्न पहलुओं को मंच पर प्रस्तुत करती है।

1. भरत मुनि के अनुसार (नाट्यशास्त्र) :

'नाट्यम् भिन्नरुचेः जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।'

अर्थात् 'नाटक विभिन्न रुचियों वाले लोगों का एक साथ समान रूप से मनोरंजन करने वाली कला है।'

2. अरस्तू के अनुसार (काव्यशास्त्र) :

'नाटक जीवन की अनुकृति है (Imitation of Life)।'

उन्होंने नाटक को ट्रैजेडी और कॉमेडी में विभाजित किया और इसे मानवीय क्रियाओं का आदर्श प्रस्तुतीकरण माना।

3. पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार :

'नाटक काव्य की वह विधा है जिसमें संवाद और अभिनय के द्वारा किसी कथा या भाव को मंच पर प्रस्तुत किया जाता है।'

4. डॉ. नगेन्द्र के अनुसार :

'नाटक एक ऐसी दृश्य-श्रव्य कला है जिसमें कथानक, पात्र, संवाद, अभिनय और दृश्यावली का समन्वय होता है।'

5. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार :

'नाटक जीवन का संघर्ष है, जिसमें पात्रों के विचार, भाव और क्रियाएँ संवाद के माध्यम से व्यक्त होते हैं।'

6. 'रंगमंच पर अभिनय द्वारा प्रस्तुत करने की दृष्टि से लिखी गयी तथा पात्रों एवं संवादों पर आधारित एक से अधिक अंकों वाली दृश्यात्मक साहित्यिक रचना को नाटक कहते हैं।'

'नाटक जीवन का अनुकरण है जो रंगमंच पर अभिनय के माध्यम से दर्शकों को आनन्द, विचार और संवेदना प्रदान करता है।' नाटक एक ऐसी साहित्यिक रचना है जिसे मंच पर अभिनय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें संवादों के माध्यम से कथानक को दर्शाया जाता है और जिसका उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ भावनात्मक, सामाजिक या नैतिक सन्देश देना होता है। नाटक मनोरंजन के साथ-साथ समाज को शिक्षित और प्रेरित भी करता है। नाटक वस्तुतः रूपक का एक भेद है। रूप का आरोप होने के कारण नाटक को रूपक कहा जाता है। अभिनय के समय नट पर दुष्यन्त या राम जैसे ऐतिहासिक पात्र का आरोप किया जाता है, इसीलिए इसे रूपक कहते हैं। नट अर्थात् अभिनेता से सम्बद्ध होने के कारण इसे नाटक कहते हैं। नाटक में ऐतिहासिक पात्र विशेष की शारीरिक एवं मानसिक अवस्था का अनुकरण किया जाता है। आज नाटक शब्द अंग्रेजी ड्रामा या प्ले का पर्याय बन गया है। हिन्दी में मौलिक नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द जी से माना जाता है। द्विवेदी युग में इसका अधिक विकास नहीं हुआ। छायावाद युग में जयशंकर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। छायावादोत्तर युग में लक्ष्मी नारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, डॉ. रामकुमार वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश आदि ने इस विधा को विकसित किया है।

नाटक के तत्त्व

साहित्यिक विधाओं की कुछ संरचनात्मक विशिष्टताएँ होती हैं जो एक-दूसरे से अलग पहचान बनाती हैं तथा प्रत्येक विधा को उसका अपना निश्चित स्वरूप प्रदान करती हैं। नाटक मंचन की परम्परा दुनिया भर में प्राचीन काल से चली आ रही है। यही


Edit with WPS Office

कारण है कि अधिकांश देशों के प्राचीन साहित्य में नाट्य लेखन प्रचुर मात्रा में हुआ तथा नाट्य सिद्धान्तों की चर्चा काव्य सिद्धान्तों की चर्चा के साथ-साथ ही शुरू हो गयी। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि नाटक का स्वरूप परम्परा और प्रयोग के आधार पर निर्मित और रूपान्तरित होता रहता। हिन्दी नाटक की स्थिति भी ऐसी ही है, इसके स्वरूप निर्माण में भारतीय और पाश्चात्य नाट्य दृष्टियों का योग रहा है। अतः भारतीय और पाश्चात्य नाट्य तत्त्वों की संक्षिप्त जानकारी आवश्यक है। भारतीय नाट्य सिद्धान्त संस्कृत के नाटकों के आधार पर निर्मित हुए थे तथा पश्चिमी नाट्य सिद्धान्तों का आधार यूनानी नाटक थे। भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन अनिवार्य तत्त्व माने हैं-वस्तु, नेता और रस। वस्तु का अर्थ है कथावस्तु, नेता यानी पात्र और रस यानी रचना से उत्पन्न होने वाले प्रभाव या उसकी अनुभूति। अर्थात् रचनाकार द्वारा अनुभूत सत्य की दर्शक अथवा पाठक को प्रतीति अथवा अनुभूति। पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक के छह तत्त्व माने हैं, कथावस्तु, पात्र, देश-काल, संवाद, शैली और उद्देश्य। इसके अलावा वहाँ संकलन-त्रय यानी नाटक में स्थान, समय और काल की एकता पर भी जोर दिया गया है। पश्चिम में सुखान्त और दुखान्त दो तरह के नाटकों का प्रचलन रहा है और पश्चिमी नाटक में द्वन्द्व अथवा संघर्ष को प्रधानता दी गयी और भारतीय नाटक में रसानुभूति को। नाटक के तत्त्वों के भीतर पश्चिम और भारतीय दोनों दृष्टियों का समावेश रहा है।

1) कथावस्तु अथवा कथानक :

नाटक की कहानी को 'कथावस्तु' या 'कथानक' कहा जाता है जिसमें घटनाओं के क्रम का विकास होता है। नाटककार अपनी कथावस्तु के चयन में कहानीकार या उपन्यासकार की भाँति अधिक सामग्री प्रयोग नहीं कर सकता। नाटककार को अभिनय में एक निश्चित समय की सीमा के भीतर ही कथानक का समावेश करना होता है, इसलिए वह पूरी कथा की मुख्य-मुख्य घटनाओं को ही नाटक में इस ढंग से रखता है कि दर्शकों को कथा की प्रतीति हो जाती है।

भारतीय आचार्यों ने नाटक में तीन प्रकार की कथाओं का निर्धारण किया है-1. प्रख्यात, 2. उत्पाद्य, 3 मिष्ठा प्रख्यात कथा। प्रख्यात कथा इतिहास, पुराण से प्राप्त होती है। जब उत्पाद्य कथा कल्पना पराश्रित होती है, मिश्र कथा कहलाती है। इतिहास और कथा दोनों का योग रहता है। इन कथा आधारों के बाद नाटक कथा को मुख्य तथा गौण अथवा प्रासंगिक भेदों में बाँटा जाता है, इनमें से प्रासंगिक के भी आगे पताका और प्रकरी हैं।

(क) आधिकारिक अथवा मुख्य कथा- जो नायक के चरित्र से सीधा सम्बन्ध रखती है।

(ख) प्रासंगिक अथवा गौण कथा- जो प्रसंगवश कथा में आ जाती है।

प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है-

(अ) पताका- यह वह प्रासंगिक कथा है, जो मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलती है।

(ब) प्रकरी- यह वह प्रासंगिक कथा है, जो बीच में ही समाप्त हो जाती है। रामायण की कथा में राम की कथा के साथ-साथ अन्त तक चलने वाली भरत की कथा 'पताका' है जबकि 'शबरी' की कथा 'प्रकरी' है।

भारतीय आचार्यों के मतानुसार नाटकों की कथावस्तु पाँच प्रकार की होती है-

(i) प्रारम्भ, (ii) प्रयत्न, (iii) प्रत्याण, (iv) नियताप्ति, (v) फलागम।

इसके अतिरिक्त नाटक में पाँच सन्धियों का प्रयोग भी किया जाता है। वास्तव में, नाटक में कथावस्तु की योजना इस प्रकार करनी होती है कि पात्रों और घटनाओं के बीच ऐसी संगति स्थापित हो, जिससे पात्र अपने कार्य-व्यवहार को प्रभावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त कर सकें। नाटककार को ऐसे प्रसंगों को कथा में नहीं रखना चाहिए जो मंचन के अनुकूल न हों।

2) पात्र :

नाटक में अपने विचारों और भावों का प्रतिपादन नाटककार को पात्रों के माध्यम से ही करना होता है। अतः नाटक में पात्रों का विशेष स्थान होता है। नाटक में घटनाओं के आधार पर पात्र होते हैं। नाटक के प्रमुख पात्र को 'नायक' कहते हैं। नायक ही

Edit with WPS Office

नाटक में फल का अधिकारी होता है। नायक की पत्नी या प्रेमिका 'नायिका' कहलाती है। प्रमुख पात्र अथवा नायक कला का अधिकारी होता है तथा समाज को उचित दिशा तक ले जाने वाला होता है। भारतीय आचार्यों के मतानुसार नायक विनीत, त्यागी, प्रियवादी, दक्ष, लोकप्रिय, आदर्शवादी, शास्त्रज्ञ, धर्मनिष्ठ, आत्म-सम्मान, ओजस्वी आदि सभी गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। किन्तु आधुनिक नाटकों में उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक नहीं माना जाता। आज नाटकों में किसान, मजदूर आदि कोई भी पात्र हो सकता है। पात्रों के सन्दर्भ में नाटककार को केवल उन्हीं पात्रों की सृष्टि करनी चाहिए जो घटनाओं को गतिशील बनाने में तथा नाटक के चरित्र पर प्रकाश डालने में सहायक होते हैं। पात्रों का सजीव और प्रभावशाली चरित्र ही नाटक की जान होती है। कथावस्तु के अनुरूप नायक धीरोदात्त, धीर ललित, धीर शान्त या धीरोद्धत हो सकता है।

नाटक के अन्य सभी तत्त्व पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं। उनके आचार व्यवहार और वार्तालाप से नाटक की कथावस्तु निर्मित होती है। नाटक में नायिका के अतिरिक्त कुछ मुख्य पात्र भी होते हैं, जिनमें कुछ नायक के सहयोगी होते हैं, जबकि कुछ प्रतिकूल या विरोधी भूमिका निभाते हैं। प्रमुख विरोधी पात्र खलनायक या प्रतिनायक कहलाता है। पात्रों की संख्या के सम्बन्ध में नाटक में कोई निश्चित नियम नहीं होता। कथावस्तु की आवश्यकताओं के अनुरूप पक्षों की योजना की जाती है। इतना ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए कि उतने ही पात्र रखे जायें जितने कार्य-व्यापार के विकास के लिए जरूरी हों। कोई भी पात्र फालतू प्रतीत नहीं होना चाहिए। इसी तरह पात्रों की संख्या इतनी अधिक न हो जाये कि नाटक के समग्र प्रभाव में विघ्न पड़े अथवा रंगमंच पर पात्रों की भीड़-भाड़ दिखाई दे। घटनाओं की जरूरत के हिसाब से ही पात्र होने चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि पात्रों के कार्य से कथानक विकसित हो और वे कथानक के अनिवार्य अंग हों।

3) उद्देश्य :

नाटक साहित्य की एक प्रमुख विधा है, जो अभिनय, संवाद और मंचन के माध्यम से किसी कथा या विचार को दर्शकों तक पहुँचाती है। नाटक का हर तत्त्व-पात्र, संवाद, भाव, दृश्य-किसी मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही प्रयुक्त होता है। अतः नाटक का 'उद्देश्य' उसके प्रमुख तत्त्वों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

नाटक के उद्देश्य के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है। हमारा देश आदर्शवादी रहा है, अतः यहाँ साहित्य रचना किसी न किसी आदर्श को ध्यान में रखकर हुई है। यहाँ के नाटकों में धर्म, अर्थ और काम जीवन के तीन प्रमुख उद्देश्यों में से किसी न किसी एक की प्रधानता अवश्य रहती है। नाटक के अन्य तत्त्व इस उद्देश्य के साधन मात्र होते हैं। भारतीय दृष्टिकोण सदा आशावादी रहा है इसलिए संस्कृत के प्रायः सभी नाटक सुखान्त रहे हैं। पाश्चात्य नाटकों में व्यक्त या अव्यक्त रूप से कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है किन्तु वह किसी प्रकार की जीवन मीमांसा के रूप में होता है। आन्तरिक या बाह्य संघर्ष के द्वारा दर्शक या पाठक उस उद्देश्य को समझने में सफल होते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के साथ ही साथ संघर्ष का शमन हो जाता है। पाश्चात्य नाटककार अपने इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति स्वयं न करके कथोपकथन के माध्यम से करता है। पश्चिम नाटककारों ने या साहित्यकारों ने साहित्य को जीवन की व्याख्या मानते हुए उसके प्रति यथार्थ दृष्टिकोण अपनाया है, उसके प्रभाव से हमारे यहाँ भी कई नाटक दुखान्त में लिखे गये हैं। नाटक का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं है, बल्कि समाज और व्यक्ति के मनोबल को छूना, झकझोरना और प्रेरित करना भी है। यह उद्देश्य ही नाटक को सार्थक, प्रभावशाली और अमर बनाता है। जिस नाटक में उद्देश्य स्पष्ट और सशक्त होता है, वही दर्शकों के मन में स्थायी प्रभाव छोड़ता है।

4) देश काल तथा वातावरण :

देश-काल और वातावरण से पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता और वास्तविकता आती है। प्रत्येक युग, देश तथा वातावरण का चित्रण, उसकी संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन, वेशभूषा के अनुकूल होना चाहिए। किन्तु इस चित्रण में रंगमंच की सुविधाओं और सीमित स्थान का भी ध्यान रखना होता है।

देश-काल और वातावरण के चित्रण में नाटककार को युगानुकूलता के प्रति विशेष रूप से सतर्क रहना आवश्यक होता है। पश्चिमी नाटक में देश-काल के अन्तर्गत संकलनत्रय — समय, स्थान और कार्य की एकता — पर विशेष बल दिया गया है। वस्तुतः यह तीनों तत्त्व 'यूनानी रंगमंच' के अनुकूल थे। जहाँ रात भर चलने वाले लम्बे नाटक होते थे और दृश्य परिवर्तन की योजना नहीं होती थी। परन्तु आज रंगमंच के विकास के कारण संकलन का महत्त्व समाप्त हो गया है। भारतीय नाट्यशास्त्र में

Edit with WPS Office

इसका उल्लेख ना होते हुए भी नाटक में स्वाभाविकता, औचित्य तथा सजीवता की प्रतिष्ठा के लिए देश-काल और वातावरण का उचित ध्यान रखा जाता है। इसके अन्तर्गत पात्रों की वेशभूषा में तत्कालीन धार्मिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों तथा युग की विशेषताओं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। अतः नाटक के तत्त्वों में देश-काल और वातावरण का अपना महत्त्व है।

5) संवाद अथवा कथोपकथन :

नाटक में नाटककार संवादों द्वारा ही वस्तु का उद्घाटन तथा पात्रों के चरित्र का विकास करता है। हमारे जीवन में वाणी का जो महत्त्व है, वही नाटक में संवादों का है। अन्य साहित्यिक विधाओं में लेखक अपनी ओर से भी कुछ कह सकता है, किन्तु नाटक में लेखक अपनी बात केवल पात्रों के माध्यम से ही प्रस्तुत करता है। पात्रों का व्यवहार और वाणी ही लेखक के कथ्य को दर्शक तक पहुँचाती है। पात्रों के चरित्र के उद्घाटन में संवादों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। किसी पात्र के वचनों से उसके अपने बारे में परिचय मिलता है। साथ ही जो कुछ वह अन्य पात्रों के बारे में कहता है, उससे अन्य पात्रों के बारे में जानकारी मिलती है।

अतः संवाद सरल, सुबोध, स्वाभाविक तथा पात्र अनुकूल होने चाहिए। गम्भीर दार्शनिक विषयों से इसकी अनुभूति में बाधा होती है। संवाद को नाटक की कसौटी माना जाता है क्योंकि कथ्य की सम्प्रेषणीयता में संवाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। संवाद न तो इतने लम्बे होने चाहिए कि वे मौखिक भाषा की दृष्टि से अस्वाभाविक प्रतीत हों और दर्शक ऊबने लगें, और न ही इतने विचार-भार से युक्त कि वे अस्पष्ट हो जायें। उनमें बोलचाल की सहजता अपेक्षित है। रंगमंच पर नाटक की सफलता या असफलता का आधार काफी हद तक उसके संवाद होते हैं।

कथोपकथन का उपयोग अक्सर कहानी को आगे बढ़ाने, पात्रों के बारे में जानकारी देने या कहानी में भावनात्मक तनाव पैदा करने के लिए किया जाता है। कथोपकथन नाटक का प्राण है। इसी से पात्रों के चरित्र का विकास होता है। नाटक में निरर्थक कथोपकथन की कोई गुंजाइश नहीं है। कथोपकथन स्वाभाविक, तर्कसंगत और यथासम्भव संक्षिप्त होने चाहिए। उसमें अभिनय की उपयुक्तता होनी चाहिए। कथोपकथन को आचार्यों ने तीन श्रेणियों में बाँटा है-

अ) नियत श्राव्य- यह कथोपकथन कुछ निश्चित पात्रों के ही बीच होता है। रंगमंच पर उपस्थित सभी पात्रों का सम्बन्ध उससे नहीं होता।

आ) सर्व श्राव्य- यह सबके सुनने के लिए होता है।

इ) अश्राव्य- यह रंगमंच पर उपस्थित किसी पात्र के सुनने के लिए न होकर केवल दर्शकों के सुनने के लिए होता है। इसे स्वगत कथन या स्वगत भाषण भी कहा जाता है। यद्यपि स्वगत कथन को आजकल अनुचित माना जाता है किन्तु इसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

6) अभिनय :

यह नाटक का प्रमुख तत्त्व है जो कथानक, पात्रों और संवादों को जीवन्त रूप प्रदान करता है। अभिनय के बिना नाटक की कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि यही वह माध्यम है जिसके द्वारा दर्शकों तक नाटक का सन्देश और भावनाएँ प्रभावी ढंग से पहुँचती हैं। अभिनेता नाटक के पात्रों की मनोदशा, व्यक्तित्व और भावनाओं को अपने हाव-भाव, संवाद अदायगी और शारीरिक अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत करता है। एक अच्छा अभिनेता पात्र की भावनाओं को इतने विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत करता है कि दर्शक उसमें खो जाते हैं। अभिनय में संवादों का उच्चारण, लय और तीव्रता महत्त्वपूर्ण होती है। कई बार मौन अभिनय भी गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। नृत्य, मुद्राएँ, लड़ाई के दृश्य या यहाँ तक कि चेहरे के सूक्ष्म भाव भी कहानी को आगे बढ़ाते हैं। अभिनय का उद्देश्य दर्शकों को नाटक की दुनिया में खींचना और उन्हें भावनात्मक या बौद्धिक स्तर पर प्रभावित करना होता है। अभिनय नाटक की आत्मा है, जो लिखित शब्दों को सजीव अनुभव में बदल देता है। यह न केवल मनोरंजन करता है, बल्कि समाज को प्रतिबिम्बित करने और उसे चुनौती देने का एक शक्तिशाली उपकरण भी है।

अभिनय नाट्यतत्त्व का वह गुण है जो दर्शक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस सम्बन्ध में नाटककार को नाटकों के

Edit with WPS Office

रूप, आकार, दृश्यों की सजावट और उसके उचित सन्तुलन, परिधान, व्यवस्था, प्रकाश व्यवस्था आदि का पूरा ध्यान रखना चाहिए। दूसरे शब्दों में लेखक की दृष्टि रंगशाला के विधि-विधानों की ओर विशेष रूप से होनी चाहिए, इसी में नाटक की सफलता निहित है। इसकी श्रेष्ठता पात्रों के वाक्चातुर्य और अभिनय कला पर निर्भर है। मुख्य प्रकार से अभिनय चार प्रकार का होता है-

आंगिक अभिनय : शरीर से किया जाने वाला अभिनय

वाचिक अभिनय : संवाद का अभिनय

आहार्य अभिनय : वेशभूषा, मेकअप, स्टेज विन्यास

सात्विक अभिनय : अन्तर्रात्मा से किया गया अभिनय

7) भाषा-शैली :

नाटक की भाषा सरल, स्पष्ट, स्वाभाविक एवं अभिनेयता के गुणों से सम्पन्न होनी चाहिए, जिससे उसमें प्रभावशीलता का समावेश हो सके और दर्शकों को क्लिष्ट भाषा के कारण अनावश्यक बौद्धिक श्रम न करना पड़े; अन्यथा रस की अनुभूति में बाधा उत्पन्न हो सकती है। अतः नाटक की भाषा सरल व स्पष्ट रूप में प्रवाहित होनी चाहिए। भाषा की दुरूहता पाठकों अथवा दर्शकों के लिए आनन्द में बाधक हो जाती है। नाटक की भाषा पात्रों के स्वभाव एवं संवाद के परिवेश के अनुरूप होनी चाहिए। अर्थात् नाटक की भाषा पात्रों के गुण, स्वभाव, शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक हैसियत और मानसिक स्थिति के अनुरूप होनी चाहिए, साथ ही वह उस समय और समाज के अनुकूल भी हो, जिससे वे पात्र सम्बन्धित हैं। दृश्य विधा के कारण नाटक में हमारा भाषा से जीवित साक्षात्कार होता है। भाषा के लिखित रूप के बजाय यहाँ उसके मौखिक रूप की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। लिखित भाषा और मौखिक भाषा के स्वरूप और प्रभाव में अन्तर होता है। किन्तु नाटक में दोनों का समन्वय अपेक्षित होता है। जो बात पात्र कहे वह दर्शक को तुरन्त सम्प्रेषणीय हो, इसलिए उसमें स्पष्टता नितान्त अपेक्षित है। इसके साथ ही उसमें सार्थक सारगर्भिता भी हो जो दर्शकों को प्रभावित कर सके। यानी किसी भी गम्भीर या महत्त्वपूर्ण बात को पूरी सहजता और स्पष्टता से इस प्रकार कहा जाये कि उसकी बोलचाल की लय समाप्त न हो।

किसी भी कृति में कथ्य को प्रस्तुत करने का ढंग शैली कहलाता है। कोई भी बात अपने आप में जितनी महत्त्वपूर्ण होती है, उतना ही उसे प्रस्तुत करने का ढंग भी महत्त्वपूर्ण होता है। शैली में दो चीजों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है-लेखक का अपना व्यक्तित्व और उसके द्वारा चुना गया विषय। विषय के अनुरूप शैली गम्भीर विवेचन युक्त, विश्लेषणात्मक, विवरणात्मक या व्यंग्यात्मक होती है। शैली के कई भेद होते हैं। उदाहरण के लिए प्रतीकात्मक शैली, हास्यपरक शैली, व्यंग्यात्मक शैली, विचारपरक शैली, मनोविश्लेषणपरक शैली, भावनात्मक शैली, प्रसन्न शैली, पाण्डित्यपूर्ण शैली, तर्कपूर्ण शैली, खण्डन-मण्डन की शैली, बोलचाल की शैली।

एक ही कृति में स्थान-स्थान पर अलग-अलग शैलियाँ भी प्रयुक्त हो सकती हैं।

8) रस :

नाटक एक समग्र साहित्यिक विधा है जिसमें संवाद, अभिनय, भाव, मंचन आदि का समावेश होता है। इसका उद्देश्य दर्शकों को मनोरंजन प्रदान करना, साथ ही उनके हृदय में किसी भावना या अनुभूति को जाग्रत करना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति 'रस' के माध्यम से होती है।

'रस आत्मा नाट्यस्य'

अर्थात् 'रस ही नाटक की आत्मा है।'

Edit with WPS Office

रस वह भावात्मक स्थिति है जो दर्शकों के हृदय में उत्पन्न होकर उन्हें सौन्दर्यबोध एवं आनन्द की अनुभूति कराता है। नाटक का मूल उद्देश्य दर्शकों के हृदय में किसी रस की अनुभूति कराना होता है। अभिनय, संवाद, गीत, नृत्य आदि सभी रस के सम्प्रेषण में सहायक होते हैं। रस के माध्यम से ही दर्शक अपने अनुभव को पात्र के अनुभव से जोड़ पाता है। रसानुभूति दर्शकों को मानसिक शुद्धि (कैथार्सिस) प्रदान करती है। नाटक में रस तत्त्व केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि मनुष्य के भावात्मक जीवन की गहराई को उजागर करने का माध्यम है। रस के बिना नाटक निर्जीव और प्रभावहीन हो जाता है। इसीलिए, रस को नाटक की आत्मा कहा गया है।

नाटक के प्रकार

नाटक कई तरह के होते हैं। कुछ नाटकों को आप किसी थिएटर अथवा रंगमंच पर प्रस्तुत होते देखते हैं। साथ ही कुछ नाटक आपने ऐसे भी देखे होंगे जिनके अभिनय के लिए किसी थिएटर या रंगशाला की जरूरत नहीं है। आपने रामलीला या रासलीला देखी होगी, नौटंकी, विदेसिया या तमाशा आदि देखे होंगे या नुक्कड़ नाटक देखे होंगे। इनकी प्रस्तुति किसी भी खुली जगह में हो जाती है। जरूरत हो तो मंच बना लिया जाता है नहीं तो लोग दायरा बना कर खड़े हो जाते हैं या बैठ जाते हैं और अभिनेता बीच में खड़े होकर अभिनय करते हैं। इसके अलावा आपने टेलीविजन पर नाटक देखे होंगे या रेडियो पर नाटक सुने होंगे। इस तरह के नाटकों दिए गए पृष्ठों का मूल पाठ इस प्रकार है :

के कई भेद होते हैं, जैसे साहित्यिक नाटक और लोक नाटक। वस्तुतः इनके भेदों का निर्धारण कई आधारों पर किया जा सकता है।

1) स्वरूप के आधार पर नाटक के प्रकार :

I) सुखान्त नाटक- सुखान्त नाटक वह नाट्य रूप है, जिसमें कथा का अन्त सुखद होता है, अर्थात् नायक को संघर्षों के बाद सफलता, प्रेम, शान्ति या न्याय प्राप्त होता है और दर्शकों के मन में संतोष और प्रसन्नता का भाव उत्पन्न होता है। इस नाटक में जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जाता है। यह दर्शकों में विश्वास और प्रेरणा जगाता है। सुखान्त नाटकों में सामाजिक सुधार, प्रेम, एकता, नैतिकता आदि पर बल होता है। यह नाटक समाज को एक सकारात्मक दिशा दिखाते हैं। सुखान्त नाटक केवल मनोरंजन नहीं करता, बल्कि सामाजिक और मानवीय मूल्यों को भी मजबूत करता है।

II) दुखान्त नाटक- दुखान्त नाटक एक नाट्य शैली है, जिसमें नायक या मुख्य पात्र का दुःखद अन्त होता है। यह नाटक मानवीय पीड़ा, नियति के संघर्ष और नैतिक विफलता को गहराई से चित्रित करता है। नायक की पराजय, पतन या मृत्यु होती है। नायक प्रतिष्ठित होता है, परन्तु उसकी कोई त्रुटि उसके पतन का कारण बनती है। दर्शकों में दया और भय की भावना जगाकर उनका शुद्धिकरण होता है। दुखान्त नाटक मानव जीवन की कठोर वास्तविकताओं को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करता है और दर्शकों को गहन चिन्तन के लिए प्रेरित करता है।

III) दुःख-सुखान्त नाटक- दुख-सुखान्त नाटक वह नाटक होता है जिसमें कथा का आरम्भ या मध्य भाग दुःखद घटनाओं, संघर्षों या विघ्नों से भरा होता है, लेकिन अन्ततः कथा का समापन सुखद रूप में होता है। ऐसे नाटकों में जीवन की यथार्थता और संघर्षों से उबरने की प्रेरणा दिखाई देती है। ऐसे नाटक हृदय को स्पर्श करते हैं। करुणा, आशा और विजय की भावनाएँ एक साथ प्रकट होती हैं। अच्छाई की जीत और बुराई की हार होती है। दुख-सुखान्त नाटक न केवल दर्शकों को भावनात्मक रूप से प्रभावित करता है, बल्कि जीवन के संघर्षों के बीच आशा और विश्वास की भावना भी जगाता है। यह नाट्य-प्रकार यथार्थ और आदर्श का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करता है।

IV) प्रहसनपरक नाटक- प्रहसनपरक नाटक वह होता है जिसमें हास्य, विनोद, व्यंग्य और विचित्र परिस्थितियों के माध्यम से दर्शकों का मनोरंजन किया जाता है।

इन नाटकों में पात्रों की गतिविधियाँ, भाषा और परिस्थितियाँ प्रायः हास्यास्पद तथा अत्युक्तिपूर्ण होती हैं। इनके माध्यम से समाज की कुरीतियों, पाखण्ड, भ्रष्टाचार, मूर्खता आदि पर व्यंग्यात्मक ढंग से प्रभावी चोट की जाती है। संवाद छोटे, चुटीले और

Edit with WPS Office

व्यंग्य से भरपूर होते हैं। ऐसे नाटक दर्शकों को हँसाते हुए सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक सच्चाइयों को उजागर करते हैं। प्रहसनपरक नाटक एक सशक्त नाट्य रूप है, जो हल्के-फुल्के ढंग से गम्भीर विषयों को प्रस्तुत करता है। यह न केवल दर्शकों को हँसाता है, बल्कि उन्हें सोचने पर भी विवश करता है।

2) विषय के आधार पर नाटक के प्रकार :

I) ऐतिहासिक नाटक : ऐतिहासिक नाटक वह नाट्य शैली है जिसमें इतिहास की घटनाओं, व्यक्तित्वों और युगीन परिस्थितियों को नाटकीय रूप से प्रस्तुत किया जाता है। यह नाटक इतिहास और कल्पना के सम्मिश्रण से बनता है, जिसमें तथ्यात्मक सत्य के साथ-साथ नाटकीय प्रभाव को भी महत्त्व दिया जाता है। ऐतिहासिक नाटकों में शासकों, युद्धों, सामाजिक परिवर्तनों और सांस्कृतिक संघर्षों को दर्शाया जाता है। ऐतिहासिक नाटक दर्शकों को अतीत की घटनाओं से जोड़कर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना जगाता है। ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से नैतिक और सामाजिक सबक देता है।

II) पौराणिक नाटक : पौराणिक नाटक वे नाटक होते हैं जिनका कथानक भारतीय पुराणों, धर्मग्रन्थों, महाभारत, रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों से लिया गया होता है। इनमें देवी-देवताओं, ऋषि-मुनियों, महान राजाओं और पौराणिक पात्रों की जीवन गाथाएँ, नैतिक शिक्षाएँ और धार्मिक सन्देश नाटकीय रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। कथा रामायण, महाभारत, भागवत, शिव पुराण आदि ग्रन्थों से ली जाती है। इनमें सत्य, धर्म, कर्म, भक्ति, त्याग जैसे नैतिक मूल्यों का प्रचार होता है और ये धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को जीवित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये नाटक नैतिक मूल्यों और आदर्श जीवन की प्रेरणा देते हैं। जनमानस में भक्ति और संस्कारों की भावना का विकास करते हैं। पौराणिक नाटक आध्यात्मिकता, नैतिकता और सांस्कृतिक गौरव को मंच पर सजीव करते हैं। यह केवल एक नाटकीय प्रस्तुति नहीं, बल्कि एक धार्मिक और सांस्कृतिक अनुभव होता है।

III) सामाजिक नाटक : सामाजिक नाटक वह नाट्य शैली है जिसमें समकालीन सामाजिक समस्याओं, मानवीय सम्बन्धों, वर्ग संघर्ष और नैतिक मूल्यों को केन्द्र में रखकर कथा प्रस्तुत की जाती है। इसका उद्देश्य समाज में व्याप्त कुरीतियों, विसंगतियों और अन्याय के प्रति जागरूकता निर्माण करना होता है। नाटक में जातिगत भेदभाव, लैंगिक असमानता, गरीबी, भ्रष्टाचार आदि मुद्दों पर प्रकाश डाला जाता है। नाटक का केन्द्र सामान्य मनुष्य होता है, जो सामाजिक परिस्थितियों से जूझता है। सामाजिक नाटक न केवल मनोरंजन का साधन है, बल्कि यह समाज का दर्पण भी है जो हमें हमारी कमियों और सम्भावनाओं से रूबरू कराता है।

IV) राजनीतिक नाटक : राजनीतिक नाटक वह नाट्य शैली है जो सत्ता, शासन व्यवस्था, राजनीतिक संघर्ष और सामाजिक-राजनीतिक विचारधाराओं को केन्द्र में रखती है। यह नाटक सत्ता के दुरुपयोग, जनता के संघर्ष और राजनीतिक व्यवस्था की विसंगतियों को उजागर करता है। इसमें पूँजीवाद और लोकतंत्र जैसी विचारधाराओं के टकराव को प्रस्तुत किया जाता है तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रतीकों के माध्यम से दर्शाया जाता है। कटाक्ष या गम्भीर विश्लेषण के माध्यम से राजनीतिक स्थितियों को उजागर करना यह राजनीतिक नाटकों की विशेषता होती है।

V) धार्मिक नाटक : धार्मिक नाटक वह नाट्य शैली है जिसमें धार्मिक कथाओं, आस्थाओं, मिथकों और आध्यात्मिक विषयों को प्रमुखता से प्रस्तुत किया जाता है। इसका उद्देश्य धार्मिक शिक्षा देना, आस्था को मजबूत करना या धर्म के सामाजिक प्रभाव को दर्शाना होता है। धर्म, नैतिकता और ईश्वर-भक्ति जैसे विषयों पर बल दिया जाता है। नाटक में धार्मिक संकेतों और प्रतीकों का उपयोग होता है। धार्मिक नाटकों में श्रद्धा, करुणा और शान्त रस की प्रधानता होती है। यह नाटक धार्मिक आस्था और नैतिक मूल्यों को सुदृढ़ करता है।

3) शैली के आधार पर नाटक के प्रकार : हास्यपरक नाटक, व्यंग्यपरक नाटक, प्रतीकात्मक नाटक, मनोविश्लेषणपरक नाटक।

4) अंकों के आधार पर नाटक के प्रकार : एकांकी नाटक, अनेकांकी नाटक।

5) पात्रों के आधार पर नाटक के प्रकार : एक पात्रीय नाटक, बहु पात्रीय नाटक।

Edit with WPS Office

6) गद्य-पद्य के आधार पर नाटक के प्रकार : गद्य नाटक, पद्य नाटक, गीति नाटक (संगीत नाटक)।

7) प्रयोगों के आधार पर नाटक के प्रकार : समस्या नाटक, नुक्कड़ नाटक, एब्सर्ड नाटक, नृत्य नाटक।

8) प्रस्तुति माध्यम के आधार पर नाटक के प्रकार : रंगमंचीय नाटक, रेडियो नाटक, टेलीविजन नाटक।

नाटकों के ये प्रकार उनकी विशिष्टताओं को स्पष्ट करने के लिए निर्धारित किये गये हैं। अतः यह नहीं समझना चाहिए कि कोई नाटक उपर्युक्त में से किसी एक ही प्रकार का हो सकता है। किसी भी नाटक में विभिन्न दृष्टियों से कई तरह की विशिष्टताएँ होती हैं, जैसे कोई नाटक राजनीतिक होने के साथ-साथ प्रतीकात्मक और व्यंग्यात्मक भी हो सकता है। उसे समस्या नाटक के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है और नुक्कड़ के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण दीर्घोत्तरी प्रश्न:

1. नाटक का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों द्वारा दी गई प्रमुख परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन कीजिए।

(इस प्रश्न के उत्तर में नाटक शब्द की व्युत्पत्ति, उसका अर्थ, स्वरूप तथा भरत मुनि, अरस्तू, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. नगेन्द्र और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों का समावेश किया जा सकता है।)

2. नाटक के प्रमुख तत्त्वों का सविस्तार वर्णन कीजिए तथा भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-दृष्टिकोण के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

(इस प्रश्न के उत्तर में कथावस्तु, पात्र/चरित्र-चित्रण, उद्देश्य, देश-काल व वातावरण, संवाद (कथोपकथन), अभिनय, भाषा-शैली और रस जैसे सभी प्रमुख तत्त्वों तथा भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-सिद्धांतों के अंतर का विश्लेषण किया जा सकता है।)

3. नाटक के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण करते हुए 'स्वरूप' तथा 'विषय' के आधार पर नाटकों के भेदों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

(इस प्रश्न के उत्तर में स्वरूप के आधार पर (सुखान्त, दुखान्त, दुःख-सुखान्त, प्रहसनपरक) तथा विषय के आधार पर (ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक) नाटकों की विशेषताओं और उदाहरणों का विस्तृत विवरण दिया जा सकता है।)

2.0 नाटक और रंगमंच

रंगमंच का स्वरूप और प्रकार

नाटक और रंगमंच मानव अभिव्यक्ति की दो ऐसी कलाएँ हैं जो मनोरंजन के साथ-साथ समाज को दिशा, दृष्टि और संवाद भी प्रदान करती हैं। नाटक विचारों, भावनाओं और घटनाओं की रचना है, जबकि रंगमंच उन विचारों को मंच पर दृश्य रूप देने की कला है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। नाटक एक साहित्यिक विधा है जिसमें किसी कथा को संवादों, क्रियाओं और पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें जीवन के सुख-दुख, संघर्ष, प्रेम, वीरता, हास्य आदि भावनाओं का सजीव चित्रण होता है। नाटक मुख्यतः संवादप्रधान होता है और उसकी रचना मंचन योग्य होती है। रंगमंच वह माध्यम है, जिसके द्वारा नाटक को मंच पर जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पात्रों का अभिनय, संवाद की प्रस्तुति, मंच सज्जा, प्रकाश व्यवस्था, ध्वनि और संगीत, श्रृंगार, वेशभूषा आदि रंगमंच के घटक हैं। नाटक बीज है, रंगमंच उसका वृक्ष। नाटक में जो लिखा गया है, रंगमंच उसे जीवन प्रदान करता है। यह सामाजिक समस्याओं, विषमताओं और रूढ़ियों को उजागर करता है तथा नैतिक मूल्यों, राष्ट्रप्रेम और जनजागरूकता को प्रोत्साहन देता है। लोक परम्पराओं, रीति-रिवाजों, भाषा और साहित्य का संवर्धन यह सभी नाटक और रंगमंच के माध्यम से ही होता है। रंगमंच केवल एक प्रस्तुति का मंच नहीं, बल्कि यह संवेदना, संस्कृति, कलात्मकता और अभिव्यक्ति का जीवन्त माध्यम है। यह वह कला है, जो लिखित नाटक को जीवन्त रूप देकर दर्शकों के समक्ष भावनाओं,

Edit with WPS Office

विचारों और घटनाओं का सजीव दृश्य प्रस्तुत करती है। नाटक और रंगमंच विचार और अभिव्यक्ति की दो भुजाएँ हैं। नाटक जहाँ साहित्य का मौन स्वर है, वहीं रंगमंच उसका गूँजता हुआ रूप। जब दोनों का सन्तुलित मेल होता है, तब दर्शकों को मिलता है एक जीवन्त, प्रभावशाली, और हृदयस्पर्शी अनुभव।

रंगमंच का स्वरूप अनेक तत्त्वों और घटकों से मिलकर बनता है। ये सभी तत्त्व मिलकर दर्शकों को सम्पूर्ण कलात्मक अनुभव प्रदान करते हैं। अभिनय रंगमंच का हृदय है। कलाकार पात्र के मनोभावों, भावनाओं और विचारों को शरीर, वाणी और हावभाव के माध्यम से प्रकट करते हैं। अभिनय से ही नाटक प्रभावशाली बनता है। पात्र की पहचान, काल, वर्ग, जाति, संस्कृति आदि का संकेत वेशभूषा और श्रृंगार से मिलता है। यह रंगमंचीय यथार्थ को प्रामाणिकता प्रदान करता है। मंच की साज-सज्जा नाटक के वातावरण और यथार्थ को सजीव बनाती है। इसमें दृश्य वस्तुएँ, स्थान विशेष, काल विशेष और भाव विशेष को सजाया जाता है। प्रकाश रंगमंच का मूड क्रिएटर होता है। दृश्य के अनुसार प्रकाश में परिवर्तन भावनाओं की गहराई को दर्शाता है। प्रकाश से रहस्य, द्वन्द्व, शान्ति, उत्सव आदि दृश्य प्रभाव सम्भव होते हैं। ध्वनि और संगीत रंगमंच की भावनात्मक शक्ति को बढ़ाते हैं। पृष्ठभूमि संगीत, ध्वनि प्रभाव (जैसे वर्षा, युद्ध, शोर) दृश्य की यथार्थता को बढ़ाते हैं। निर्देशक रंगमंच का मार्गदर्शक होता है। वह अभिनय, दृश्य, संवाद, प्रकाश, संगीत आदि सभी घटकों को एक सामंजस्यपूर्ण रूप देता है। दर्शक रंगमंच का एक प्रमुख घटक हैं, क्योंकि मंच की प्रतिक्रिया, ऊर्जा और उद्देश्य उनकी उपस्थिति से ही पूर्णता प्राप्त करते हैं। रंगमंच केवल मंचन नहीं, यह जीवन का प्रतिबिम्ब है। यह मनुष्य की भावनाओं, संघर्षों और कल्पनाओं को मंच पर सजीव रूप में प्रस्तुत करता है। रंगमंच का स्वरूप जितना दृश्य है, उतना ही आन्तरिक और भावनात्मक भी। यह समाज, संस्कृति और साहित्य का जीवन्त संगम है।

नाटक और रंगमंच का अन्तर्सम्बन्ध गहरा और अटूट है। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और साथ मिलकर ही कला का एक सजीव रूप प्रस्तुत करते हैं। नाटक साहित्यिक रचना है, जबकि रंगमंच उस रचना को मूर्त रूप देने का माध्यम है। नाटक जहाँ एक साहित्यिक आधार है, वहीं रंगमंच उसके प्रस्तुतिकरण का माध्यम है। नाटक एक लिखित रूप होता है, जिसमें संवाद, पात्र, कथानक और दृश्य-विभाजन शामिल होते हैं। यह रंगमंच के लिए आधारभूत स्क्रिप्ट का काम करता है। रंगमंच नाटक को अभिनेता, मंच-सज्जा, प्रकाश, ध्वनि और दृश्यों के माध्यम से जीवन्त बनाता है। नाटक की सफलता बहुत हद तक रंगमंचीय प्रस्तुति पर निर्भर करती है। एक श्रेष्ठ नाटक तभी पूर्ण माना जाता है जब उसका सफल मंचन किया जाए। रंगमंच के बिना नाटक का अस्तित्व अधूरा है। रंगमंच नाटक को नया आयाम देता है। नाटक में लेखक केवल शब्दों के माध्यम से दृश्य बताता है, लेकिन रंगमंच उसे दृश्य-श्रव्य माध्यम में बदल देता है। निर्देशक नाटक की व्याख्या करता है और उसे दृश्य रूप देता है। अभिनेता पात्रों के संवादों को भाव-भंगिमा और आवाज़ के माध्यम से जीवन्त करता है। नाटक के संवाद और क्रियाएँ रंगमंच पर अभिनेताओं के माध्यम से जीवन्त हो उठते हैं और रंगमंच नाटक के विचारों को साकार करता है। नाटक में केवल शब्द होते हैं, लेकिन रंगमंच दृश्य प्रतीकों और मूक अभिनय के जरिये नाटक को नया अर्थ देता है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध आत्मा और शरीर जैसा है। नाटक आत्मा (कंटेंट) है, तो रंगमंच शरीर (प्रस्तुति)। बिना रंगमंच के नाटक एक सपना है और बिना नाटक के रंगमंच एक खाली मंच। दोनों के समन्वय से ही कला का जादू जन्म लेता है। नाटक रंगमंच का सार है, जबकि रंगमंच नाटक को आकार और जीवन देता है। दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं और मिलकर ही एक पूर्ण कलात्मक अनुभव का निर्माण करते हैं।

रंगमंच एक बहुआयामी कला है, जिसमें विभिन्न शैलियाँ, प्रस्तुति तकनीकें और सांस्कृतिक परम्पराएँ शामिल हैं। रंगमंच का कार्य केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं है, बल्कि संस्कृति और समाज को आकार देने में एक सशक्त माध्यम बन गया है। रंगमंच समाज के मूल्यों, विश्वासों और संघर्षों का प्रतिबिम्ब है।

रंगमंच के प्रकार

(1) संस्कृत रंगमंच- संस्कृत रंगमंच भारतीय रंगकला का प्राचीनतम, सर्वांगपूर्ण और अत्यन्त समृद्ध स्वरूप है। संस्कृत रंगमंच अर्थात् नाट्यशास्त्र में वर्णित रंगमंच। इस ग्रन्थ में रूपक के दस प्रकार वर्णित हैं- नाटक, प्रकरण, भाण, अंक, प्रहसन, वीथी, ईहामृग, व्यायोग, समवकार एवं डिम। कथावस्तु, नेता एवं रस के आधार पर इन प्रकारों में भी भिन्नता विद्यमान है, साथ ही

Edit with WPS Office

इसमें 18 उपरूपकों की भी चर्चा है जिसमें नाटिका, त्रोटक, प्रहसन, संवाद, वृत्त, डिम, समवकार आदि हैं। संस्कृत रंगमंच का विकास वेदकाल से लेकर मध्यकाल तक निरन्तर होता रहा, और इसने न केवल भारतीय नाट्य परम्परा को, बल्कि एशिया के कई अन्य देशों की रंग परम्पराओं को भी प्रभावित किया। संस्कृत रंगमंच का शास्त्रीय आधार भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। नाट्यशास्त्र में रंगमंच की रचना, पात्र, अभिनय, संगीत, वेशभूषा, मंच सज्जा आदि के लिए स्पष्ट नियम दिये गये हैं। वेदों में संवादात्मक, गीतात्मक और नृत्यात्मक अंश मिलते हैं, जो नाट्य की प्रारम्भिक रूपरेखा माने जा सकते हैं। संस्कृत नाटक केवल मनोरंजन का साधन नहीं था, बल्कि शिक्षा, नैतिक मूल्य और आध्यात्मिक उत्थान का माध्यम था। संस्कृत रंगमंच ने समाज को धर्म, नीति और सदाचार के आदर्श दिये। विभिन्न वर्गों, जातियों और भाषाओं के पात्रों को एक साथ मंच पर प्रस्तुत कर सामाजिक एकता को बढ़ावा दिया। इतिहास, पौराणिक कथा और लोककथाओं को कलात्मक रूप से संरक्षित किया है। संस्कृत रंगमंच की मुख्य विशेषता रस निष्पत्ति है। श्रृंगार, वीर, करुण, रौद्र, हास्य, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त- ये नौ रस मंच पर जीवन्त किये जाते हैं। संस्कृत रंगमंच में गीत, वाद्य और नृत्य का विशेष महत्त्व था। सूत्रधार नाटक की शुरुआत करता था और दर्शकों से संवाद करता था। प्रवेश और समापन पर मंगलाचरण और भरतनाट्यम, कुचिपुड़ी, कत्थक जैसे शास्त्रीय नृत्य रूपों के प्रारम्भिक स्वरूपों का प्रयोग होता संस्कृत रंगमंच आज भी भारत के सांस्कृतिक गौरव का प्रतीक है। विभिन्न विश्वविद्यालय और नाट्यसंस्थाएँ अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मृच्छकटिकम् जैसे नाटकों का मंचन कर रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर भी इनका प्रदर्शन भारतीय शास्त्रीय कला की श्रेष्ठता का परिचय देता है।

(2) लोक रंगमंच- संस्कृत रंगमंच के बाद लोक नाटकों का प्रचलन देखने को मिलता है। लोक रंगमंच वह सांस्कृतिक अभिव्यक्ति है जो जनसाधारण के जीवन, विश्वासों, रीति-रिवाजों और मनोरंजन की आवश्यकताओं से स्वतः उत्पन्न होती है। लोक रंगमंच की प्रमुख विशेषताएँ मौखिक परम्परा पर आधारित, सहजता, सभी वर्गों के लिए खुला मंच, मनोरंजन के साथ शिक्षा, क्षेत्रीय भाषा, वेशभूषा तथा संगीत का प्रयोग, सीमित साधनों में गहरी अभिव्यक्ति और लोक जीवन की सच्चाइयों की अभिव्यक्ति है। इन लोक रंगमंचों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया गया है-

(i) मन्दिर आश्रित अर्थात् ऐसा लोक रंगमंच जिसे मन्दिरों के गर्भगृह में किया जाता था, जैसे- कुड़ियट्टम, अंकिया, भाओना आदि। मन्दिर आश्रित लोक रंगमंच भारतीय नाट्य परम्परा का वह स्वरूप है, जो सीधे-सीधे धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से जुड़ा हुआ है। यह रंगमंच मन्दिरों और देवालयों में होने के कारण, इसमें भक्ति, कथा, नृत्य, संगीत और लोकजीवन का सुन्दर संगम मिलता है। इसका उद्देश्य धार्मिक उपदेश, नैतिक शिक्षा और भक्ति भावना का प्रसार है। यह लोककला और शास्त्रीय नाट्य तत्त्वों का संगम है, जहाँ कथा-वाचन, गीत, नृत्य और अभिनय का संयुक्त रूप मिलता है।

(ii) लीला नाट्य अर्थात् ऐसे लोकनाट्य जो राम व कृष्ण की लीलाओं पर आधारित होते हैं। लीला नाट्य भारतीय लोक और धार्मिक रंगमंच की एक महत्त्वपूर्ण शैली है, जिसमें देवी-देवताओं की पौराणिक कथाओं को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया जाता है। 'लीला' शब्द का अर्थ है 'दिव्य खेल' या 'ईश्वरीय क्रीड़ा', जो भगवान के अवतारों और चमत्कारिक घटनाओं को दर्शाता है, जैसे- रामलीला और कृष्णलीला।

(iii) सामाजिक नाट्य अर्थात् ऐसे लोकनाट्य जिनकी कथावस्तु सामाजिक होती है, जैसे- स्वांग, नौटंकी, नाचना आदि। नौटंकी का विषय ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक होते हैं। ठेठ नृत्य, हास्य, संवाद की तुकबन्दी, संगीत में नगाड़ा, हारमोनियम, ढोलक आदि इसकी विशेषता है। राजस्थान और गुजरात का भवाई लोक रंगमंच सिर पर मटकी रखकर नृत्य करते हुए सामाजिक अन्याय और स्त्री-शोषण की अभिव्यक्ति करता है।

लोक रंगमंच भारतीय सांस्कृतिक विरासत का अमूल्य अंग है जिसने सदियों से जनमानस को शिक्षित-मनोरंजित किया है।

(3) पारसी रंगमंच : पारसी रंगमंच भारतीय आधुनिक रंगमंच का वह महत्त्वपूर्ण अध्याय है, जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक भारत के नाट्यजगत पर गहरी छाप छोड़ी। यह मूलतः मुम्बई के पारसी व्यापारियों और नाट्य संस्थाओं के प्रयास से विकसित हुआ, और इसने भारतीय थिएटर में संस्कृत नाट्य परम्परा, लोकनाट्य, उर्दू-फ़ारसी शायरी और पाश्चात्य रंगकला का अनोखा संगम प्रस्तुत किया। यह एक लोकप्रिय नाट्य शैली थी, जिसका नाम पारसी समुदाय के नाम पर पड़ा, क्योंकि इसके प्रमुख प्रायोजक और दर्शक पारसी व्यापारी थे। यह भारतीय रंगमंच के इतिहास में एक

Edit with WPS Office

क्रान्तिकारी चरण माना जाता है, जिसने आधुनिक भारतीय नाटकों की नींव रखी।

पारसी रंगमंच का भाषाई मिश्रण (उर्दू, हिन्दी, गुजराती, फ़ारसी और अंग्रेज़ी के शब्दों के प्रयोग), गानप्रधानता (संवादों के बीच भावप्रवण गीत, ग़ज़ल, कव्वाली, ठुमरी) भव्य मंच सज्जा (रंगीन पर्दे, पेंटिंग, नकली महल, यथार्थवादी सेट), नाट्यविधा का संगम (संस्कृत नाटकों के भाव, पाश्चात्य नाट्य संरचना और लोकनाट्य की जीवन्तता), नाट्यरूपान्तरण (पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और प्रेमकथाओं को मिलाकर प्रस्तुतियाँ), अभिनय में भावुकता, नाटकीयता और अलंकारिक भाषा का प्रयोग यह पारसी रंगमंच की विशेषता है। पारसी रंगमंच ने भारतीय सिनेमा के लिए आधार तैयार किया। इसने पेशेवर थिएटर की परम्परा स्थापित की। मंच सज्जा, संगीत और कथानक शैली ने हिन्दी, उर्दू और क्षेत्रीय थिएटर को प्रभावित किया। देश के विभिन्न हिस्सों में घूम-घूमकर मंचन करने से राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान बढ़ा। पारसी रंगमंच ने भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। यह न सिर्फ मनोरंजन का साधन था, बल्कि इसने भारतीय सिनेमा और आधुनिक रंगमंच को गहराई से प्रभावित किया। आज भी इसकी विरासत बॉलीवुड, टीवी और नाट्य जगत में देखी जा सकती है।

(4) आधुनिक रंगमंच : आधुनिक रंगमंच भारतीय रंग परम्परा का वह चरण है, जिसमें पारम्परिक, धार्मिक और लोकनाट्य शैलियों के साथ-साथ पाश्चात्य रंगकला के तत्त्व सम्मिलित होकर एक नया, यथार्थवादी, प्रयोगशील और सामाजिक स्वरूप निर्मित करते हैं। इसका आरम्भ 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से माना जाता है और यह आज तक निरन्तर विकसित हो रहा है। आधुनिक रंगमंच में मंचन केवल पौराणिक या धार्मिक कथाओं तक सीमित नहीं रहा, बल्कि सामाजिक यथार्थ, राजनीतिक परिस्थितियों, व्यक्तिगत संघर्षों और मनोवैज्ञानिक पहलुओं को भी प्रमुखता दी गयी। भाषा, मंच सज्जा, अभिनय, वेशभूषा, प्रकाश और संगीत में नवीन प्रयोग हुए। रंगमंच पारिवारिक, ग्रामीण, शहरी और राजनीतिक जीवन की समस्याओं को मंच पर लाया। आधुनिक रंगमंच में निर्देशक की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मजदूर, किसान और स्वतन्त्रता संघर्ष, स्त्री स्वातन्त्र्य और समानता, घरेलू हिंसा, सामाजिक बुराइयों, अन्याय और राजनीतिक मुद्दों जैसे विषयों पर जनता को जागरूक करने वाले नाटक आधुनिक रंगमंच पर अधिक संख्या में मंचित होने लगे हैं।

प्रस्तुति शैली के आधार पर रंगमंच के प्रकार

1) यथार्थवादी रंगमंच :

यथार्थवादी रंगमंच वह शैली है जिसमें सामान्य जीवन की घटनाओं को यथावत प्रस्तुत किया जाता है। इस रंगमंच की शुरुआत आधुनिक समय में हुई है। इस रंगमंच को बिना किसी अतिरेक या नाटकीयता के इस प्रकार संयोजित किया जाता है कि दर्शकों को ऐसा प्रतीत हो जैसे वे अपने आसपास की वास्तविक घटनाओं को ही देख रहे हों। अभिनय में भी सहज शारीरिक क्रियाओं एवं बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जाता है। यथार्थवादी रंगमंच का उद्देश्य मंच पर जीवन को यथासम्भव वास्तविक और प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करना है। यह शैली रोमांटिक और शास्त्रीय नाट्य परम्पराओं के अतिशयोक्तिपूर्ण अभिनय और काल्पनिक विषयों के विरोध में उभरी। यथार्थवादी रंगमंच का प्रमुख तत्त्व वास्तविक जीवन का चित्रण है, जिसमें पात्र, संवाद और परिस्थितियाँ सामान्य जीवन से प्रभावित होती हैं तथा समाज के मध्यम और निम्न वर्ग की समस्याओं और संघर्षों को प्रमुखता दी जाती है। संवाद सहज और प्राकृतिक होते हैं, जैसे वास्तविक जीवन में बोले जाते हैं। अभिनय में अतिनाटकीयता से परहेज किया जाता है। मंच का हर तत्त्व जैसे कि फर्नीचर, मंचसज्जा, प्रकाश व्यवस्था यह वास्तविक जीवन जैसी होती है। यथार्थवादी नाटक सामाजिक समस्याओं जैसे वर्ग संघर्ष, नारी उत्पीड़न और मानवीय मनोविज्ञान को गहराई से उभारते हैं। कथानक में अचानक मोड़ या असम्भव घटनाओं को टाला जाता है। अंत अक्सर निराशाजनक या अधूरा होता है, जैसे वास्तविक जीवन में होता है। यथार्थवादी रंगमंच ने नाटक को जनसामान्य से जोड़ा और सामाजिक बदलाव का माध्यम बनाया। इसकी प्रामाणिकता आज भी आधुनिक नाटकों एवं फिल्मों को प्रभावित करती है।

2) नृत्य प्रधान रंगमंच :

नृत्य प्रधान रंगमंच वह रंगमंचीय शैली है जिसमें कथा-वस्तु, भाव और चरित्र चित्रण का मुख्य आधार नृत्य होता है। इसमें वाणी,


Edit with WPS Office

संवाद और नाट्यक्रिया गौण रहते हैं, जबकि भावाभिव्यक्ति, घटना-क्रम और चरित्रों का निर्माण नृत्य-भंगिमाओं, मुद्राओं, गतियों और लयों से किया जाता है। नृत्य का प्रधान स्थान होता है। रंगमंच का सम्पूर्ण वातावरण नृत्य के इर्द-गिर्द रचा जाता है। नृत्य केवल मनोरंजन नहीं बल्कि कथा कहने का प्रमुख माध्यम बनता है। इस रंगमंच शैली में अभिनय के चार अंगों का प्रयोग किया जाता है, आंगिक अभिनय (शरीर की गतियाँ, भंगिमाएँ, हस्तमुद्राएँ), वाचिक अभिनय (अल्प या संकेत मात्र संवाद, कभी-कभी गायन), आहार्य अभिनय (पोशाक, श्रृंगार, आभूषण जो नृत्य की शैली के अनुरूप हों), सात्विक अभिनय (भावनाओं की सूक्ष्म अभिव्यक्ति)। इसका कथानक प्रायः पौराणिक, धार्मिक, लोककथाओं या नायक-नायिका के प्रेम प्रसंगों पर आधारित होता है। कथा क्रमबद्ध नृत्य-दृश्यों में विभाजित होती है। नृत्य प्रधान रंगमंच में ताल-लय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। वाद्ययन्त्र (मृदंग, तबला, पखावज, मंजीरा) और गायन कथा के साथ सामंजस्य रखते हैं। इसमें नवरसों का प्रदर्शन नृत्य भंगिमाओं और चेहरे के भावों से किया जाता है। प्रेम, करुणा, वीरता, भक्ति आदि भाव नृत्य से उभरते हैं। भारत में नृत्य प्रधान रंगमंच के प्रमुख रूपों में केरल की कथकली, आन्ध्र प्रदेश की कुचिपुड़ी, तमिलनाडु का भरतनाट्यम, कर्नाटक का यक्ष गान आदि है। नृत्य प्रधान रंगमंच भारतीय संस्कृति की संगीत, नृत्य और नाट्य परम्परा का संगम है। यह दर्शकों को दृश्य, श्रव्य और भावनात्मक स्तर पर गहरा अनुभव देता है। यह मन्दिरों, लोक-समारोहों और उत्सवों में धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना जगाने का माध्यम रहा है।

3) संगीत प्रधान रंगमंच :

संगीत प्रधान रंगमंच की प्रस्तुति शैली में अभिनेताओं के द्वारा संवादों की अदायगी प्रायः गेय होती है। इसे म्यूजिकल ड्रामा भी कहते हैं। यह वह नाट्य शैली है जिसमें गीत, संगीत, नृत्य और अभिनय का समन्वित प्रयोग करके कथा को प्रस्तुत किया जाता है। यह शैली पारम्परिक नाटक से अलग होती है क्योंकि इसमें संवादों के साथ-साथ गीत और नृत्य भी कहानी को आगे बढ़ाने और पात्रों के भावों को व्यक्त करने का माध्यम बनते हैं। संगीत नाटक की भावनाओं, कथानक और चरित्र-चित्रण को गहराई से व्यक्त करता है। गीत कथा को आगे बढ़ाते हैं या पात्रों के आन्तरिक विचारों को प्रकट करते हैं। संगीतमय नाटकों की कथाएँ अक्सर प्रेम, संघर्ष, सामाजिक मुद्दों या ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित होती हैं। पात्रों का विकास संगीत और गीतों के माध्यम से होता है। संगीतमय नाटकों में अक्सर भव्य सेट, विशेष प्रकाश व्यवस्था और विजुअल इफेक्ट्स का उपयोग किया जाता है। कुछ संगीतमय नाटकों में संवाद प्रमुख होते हैं, जबकि कुछ पूरी तरह गीतों पर आधारित होते हैं जैसे ओपेरा। संगीतमय नाटकों की परम्परा भारत में भी रही है, जैसे कथकली, यक्षगान, रामलीला आदि। आधुनिक संगीतमय नाटकों में रॉक, हिप-हॉप और इलेक्ट्रॉनिक संगीत का प्रयोग होता है। संगीत प्रधान रंगमंच न केवल मनोरंजन का माध्यम है, बल्कि सामाजिक सन्देश देने का एक सशक्त उपकरण भी है। यह संगीत, नृत्य और नाटकीय अभिव्यक्ति का अनूठा सम्मिश्रण प्रस्तुत करता है तथा विभिन्न संस्कृतियों को जोड़ने वाली एक सार्वभौमिक कला के रूप में कार्य करता है। संगीत प्रधान रंगमंच एक जीवन्त और लोकप्रिय कला रूप है, जो दर्शकों को भावनात्मक और सौन्दर्यपूर्ण अनुभव प्रदान करता है। यह न केवल पश्चिमी देशों बल्कि भारतीय रंगमंच में भी अपनी विविधतापूर्ण अभिव्यक्ति के लिए प्रसिद्ध है।

4) नुक्कड़ शैली रंगमंच :

नुक्कड़ शैली रंगमंच बीसवीं शताब्दी के मध्य में अस्तित्व में आया। इसमें नाटकों की प्रस्तुतियाँ प्रायः गलियों, नुक्कड़ों, चौराहों, बाजारों अथवा अन्य सार्वजनिक स्थलों पर की जाती हैं। 'नुक्कड़' का अर्थ है गली का मोड़ या चौराहा, और यहीं से इस रंगमंच का नाम पड़ा। इसका उद्देश्य किसी भी औपचारिक मंच, पर्दा या प्रकाश-सज्जा के बिना साधारण लेकिन प्रभावशाली ढंग से लोगों तक सन्देश पहुँचाना है और उन्हें जागरूक करना है। नुक्कड़ शैली में दर्शक और कलाकार एक ही स्थान पर होते हैं, दूरी नहीं रहती। कलाकार सीधे दर्शकों से संवाद करते हैं। दर्शक भी नाटक में शामिल हो सकते हैं, जैसे प्रश्न पूछना, प्रतिक्रिया देना आदि। भ्रष्टाचार, अन्याय, लैंगिक समानता, पर्यावरण, श्रमिक अधिकार, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे मुद्दों पर केन्द्रित नुक्कड़ नाटक होते हैं। सरल और हास्य प्रधान भाषा आम जनता को नुक्कड़ नाटक से जोड़ने में सहायक होती है। हास्य, व्यंग्य और लोकगीतों का प्रयोग प्रभाव बढ़ाने के लिए किया जाता है। सीमित साधन, अधिक प्रभाव इसकी विशेषता है। नुक्कड़ नाटक रंगमंच की साधारण वेशभूषा होती है और हाथ में ढोलक, मंजीरा या ताशा जैसे वाद्य होते हैं। ध्वनि और लय से वातावरण बनाया जाता है। संवाद और गीतों के माध्यम से समस्या का चित्रण कर अन्त में स्पष्ट सामाजिक या राजनीतिक सन्देश दिया


Edit with WPS Office

जाता है।

5) मूक नाटक :

जिस शैली में अभिनेता वाचन की अपेक्षा शारीरिक क्रियाओं पर विशेष बल देता है तथा शारीरिक अभिव्यक्ति, चेहरे के हाव-भाव, इशारों और गतिविधियों के माध्यम से कथा या भावना को प्रस्तुत करता है, उसे मूक नाटक या 'माइम' कहा जाता है। इसमें संवाद नहीं होते हैं। केवल ध्वनियों, संगीत, मुख मुद्राएँ एवं आंगिक अभिनय से कहानी को मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। यह कला रूप दर्शकों की कल्पना शक्ति को जगाकर गहरा प्रभाव छोड़ता है। वास्तविक वस्तुओं के बजाय कल्पना से उनका अभिनय होता है जैसे रस्सी खींचना, गिलास में पानी पीना आदि। पृष्ठभूमि संगीत और ध्वनियाँ मूक अभिनय को गहराई प्रदान करती हैं। भाषा की बाधा न होने के कारण यह दुनिया भर में समझा जा सकता है। मूक नाटक मानवीय भावनाओं की सबसे शुद्ध और प्रभावशाली अभिव्यक्ति है। यह न केवल मनोरंजन करता है, बल्कि गहरी मानवीय संवेदनाओं को छूने की क्षमता रखता है। आज भी यह शैली नाटक, सिनेमा और स्ट्रीट परफॉर्मेंस में जीवित है।

6) एकालाप रंगमंच :

एकालाप रंगमंच वह नाट्य शैली है जिसमें सम्पूर्ण नाट्य प्रस्तुति केवल एक कलाकार द्वारा की जाती है। इसमें वह कलाकार किसी चरित्र के रूप में अकेले ही संवाद, घटनाएँ, भाव और कथानक को दर्शकों के सामने प्रस्तुत करता है। 'एकालाप' का अर्थ है, अकेले द्वारा किया गया संवाद या कथन। इस शैली में कलाकार केवल अभिनय ही नहीं करता, बल्कि वक्ता, कथावाचक और पात्र यह तीनों भूमिकाएँ निभाता है। पूरा नाटक एक ही कलाकार पर केन्द्रित होता है और अन्य पात्रों की उपस्थिति केवल उसके संवाद या वर्णन में होती है। कलाकार को आवाज़, हाव-भाव, शारीरिक गतियों और चेहरे के भाव से विभिन्न पात्रों को जीवन्त करना पड़ता है। एकालाप में मंच सज्जा, प्रकाश और वेशभूषा न्यूनतम होती है। कभी-कभी केवल एक कुर्सी, टेबल या प्रतीकात्मक वस्तु ही पर्याप्त होते हैं। आत्मकथात्मक घटनाएँ, ऐतिहासिक व्यक्तित्व, सामाजिक या राजनीतिक सन्देश, हास्य या व्यंग्य, मनोवैज्ञानिक संघर्ष एकालाप के विषय होते हैं।

7) प्रायोगिक रंगमंच :

प्रायोगिक रंगमंच, रंगमंच की वह शैली है जो पारम्परिक नाट्य रूपों से हटकर नये प्रयोगों, अभिनव तकनीकों और अप्रचलित विषयों को प्रधानता देती है। यह रंगमंच का एक साहसिक और अग्रणी रूप है, जो न केवल मनोरंजन करता है बल्कि समाज, राजनीति और मानव मन की जटिलताओं पर गहन प्रश्न भी उठाता है। प्रायोगिक रंगमंच में कथानक, पात्र और संवाद का रैखिक ढाँचा नहीं होता। इसमें समय और स्थान की पारम्परिक अवधारणाओं को तोड़ा जाता है। दर्शकों को नाटक का हिस्सा बनाया जाता है तो कभी-कभी दर्शकों से प्रतिक्रिया माँगी जाती है या उन्हें निर्णय लेने के लिए प्रेरित किया जाता है। अप्रचलित मंच सज्जा, प्रकाश व्यवस्था और ध्वनि प्रभावों का प्रयोग किया जाता है। इसमें विषयों की विविधता होती है। राजनीतिक विद्रोह, मनोवैज्ञानिक जटिलताएँ, अस्तित्ववादी प्रश्न जैसे गहन विषय होते हैं। पारम्परिक अभिनय से हटकर नयी शैलियों का प्रयोग किया जाता है। इसमें शारीरिक थियेटर, मूक अभिनय या अतिनाटकीयता का समावेश होता है। यह रंगमंच सामाजिक परिवर्तन का साधन है और समाज की कुरीतियों पर प्रहार करने का प्रभावशाली माध्यम भी। कलाकारों को पारम्परिक बन्धनों से मुक्त करने वाला, दर्शकों को निष्क्रिय ग्रहणकर्ता से सक्रिय भागीदार बनाने वाला प्रायोगिक रंगमंच है। प्रायोगिक रंगमंच कला का सबसे जीवन्त और गतिशील रूप है। यह न केवल कलात्मक सीमाओं को तोड़ता है बल्कि समाज को नये सिरे से सोचने के लिए प्रेरित भी करता है। भारत और विश्व भर में यह शैली निरन्तर विकसित हो रही है और रंगमंच के भविष्य की दिशा तय कर रही है।

रंगमंच एक जीवन्त और गतिशील कला है, जो समय और समाज के साथ बदलती रहती है। शास्त्रीय से लेकर प्रायोगिक, मनोरंजन से लेकर राजनीतिक- विभिन्न प्रकार के रंगमंच अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। यह न केवल मनोरंजन का साधन है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक संरक्षण और कलात्मक अभिव्यक्ति का भी महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

महत्वपूर्ण प्रश्न :

Edit with WPS Office

टिप्पणी के लिए प्रश्न:

पारसी रंगमंच की प्रमुख विशेषताओं और भारतीय सिनेमा पर इसके प्रभाव पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

नुक्कड़ शैली रंगमंच के स्वरूप, उद्देश्य और उसकी प्रस्तुतिगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

मूक नाटक (माइम) और एकालाप रंगमंच की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

दीर्घोत्तरी प्रश्न :

नाटक और रंगमंच के अंतर्संबंध को स्पष्ट करते हुए रंगमंच के स्वरूप तथा उसके प्रमुख अंगों (अभिनय, मंच-सज्जा, प्रकाश, संगीत, दर्शक आदि) का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रस्तुति शैली के आधार पर रंगमंच के विभिन्न प्रकारों (यथार्थवादी, नृत्य प्रधान, संगीत प्रधान, नुक्कड़ शैली, प्रायोगिक आदि) का सोदाहरण विस्तृत विवेचन कीजिए।

3.0 रंगमंच

नाटक के रंगमंचीय उपकरण और नेपथ्य

रंगमंच का अर्थ है प्रत्यक्ष अभिनय के माध्यम से किसी भाव, विचार या कथा की अभिव्यक्ति करना। रंगमंच लेखक के विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। रंगमंच अन्य मनोरंजन की विधाओं से अलग महत्त्व रखता है। नाटक शब्द रंगमंच से जुड़ा है। 'नाटक' और 'रंगमंच' — ये दोनों परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं, जो मिलकर रंगमंचीय कला की पूर्णता को दर्शाते हैं। नाटक का निर्माण रंगमंच पर खेलने के लिए होता है। यह दृश्य विधा है। वास्तव में रंगमंच मानव की एक सनातन प्रवृत्ति है। इसी कारण नाटक और रंगमंच के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। रंगमंच के बिना नाटक और नाटक के बिना रंगमंच — दोनों की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी श्रेष्ठ नाटककार रंगमंच की उपेक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि रंगमंच पर ही नाटक को अपनी सम्पूर्णता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से नाटक और रंगमंच दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। रंगमंच की उपेक्षा करके कोई भी नाटककार महान नाटककार नहीं बन सकता। नाटक और रंगमंच के परस्पर सम्बन्ध को समझने और उसे मूर्त रूप देने का कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। भारतेन्दु ने युग की नब्ज पहचान कर नाटक की विषयवस्तु को समकालीन रंग दिया, उसे मंचीयता प्रदान की, और अभिनय व निर्देशन जैसे पक्षों में स्वयं अनुभव प्राप्त किया। भारतेन्दु के नाटकों की विषयवस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक अधिक रही। सामाजिक नाटकों की संख्या अधिक मात्रा में रही है। उनके बहुत से नाटकों का मंचन हुआ है। लेकिन रंगमंच को ध्यान में नहीं रखा। नाटक साहित्य की अन्य विधाओं में सबसे अधिक रमणीय माना जाता है, क्योंकि वह दृश्य होने के कारण जीवन का वर्णन करने के बजाय उसे प्रत्यक्ष रूप में मंच पर प्रस्तुत करता है, जिससे कलात्मक वर्णन की आवश्यकता नहीं रह जाती। नाटक में श्रोता या दर्शक पात्रों के जीवन को अपने सामने देखते हैं। नाटक में मनुष्य का जीवन प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने प्रस्तुत होता है। नाटक की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें अतीत और वर्तमान होता है और दोनों वर्तमान में अभिव्यक्त होते हैं। नाटक की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह सभी वर्गों के लोगों को समान रूप से आकृष्ट करता है — चाहे वे नागरिक हों या ग्रामीण, बालक हों या वृद्ध, शिक्षित हों या अशिक्षित; स्त्री और पुरुष सभी उसे देखकर आनन्दित होते हैं। नृत्य, गीत, संगीत, ध्वनि-प्रकाश योजना के कारण नाटक में एक समन्वित प्रभाव निर्माण होता है, जो दर्शकों को आप्लावित करता है।

नाटक की कला एक बहुआयामी, सामूहिक और सामाजिक कला है, जिसमें जीवन की वास्तविकताओं का उद्घाटन होता है। रंगमंच और नाटक, यद्यपि दो अलग-अलग सत्ताएँ हैं, फिर भी वे परस्पर पूरक हैं, क्योंकि नाटक का विकास रंगमंच के कारण हुआ है और रंगमंच का अस्तित्व नाटक के बिना सम्भव नहीं है। साहित्य और कला में नाटक की अपनी एक विशिष्ट विधागत पहचान होती है। साहित्य के अन्य रूपों में साहित्यकार शब्दों के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति करता है, और उसकी रचना प्रकाशन के साथ ही पाठकों तक पहुँच जाती है। इसके पश्चात लेखक की भूमिका लगभग समाप्त हो जाती है। परंतु जहाँ तक

Edit with WPS Office

नाटक का प्रश्न है, वह यद्यपि एक साहित्यिक विधा है, फिर भी वह एक पुनर्प्रस्तुतिमूलक विधा है। नाटक का जन्म अनुष्ठान से हुआ माना जाता है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों परम्पराओं में नाटक की उत्पत्ति धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़ी मानी गयी है, जिसे चाक्षुष यज्ञ कहा गया है। नाटक को लिखने के बाद उसका मंचन आवश्यक होता है, जिससे वह सीधे दर्शकों तक पहुँचे। इसमें प्रेषक (कलाकार/नाट्यकार) और दर्शक के बीच कोई अन्य माध्यम नहीं होता। यही कारण है कि नाटक को मंचित करते समय कई व्यावहारिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। नाटक को अपने समय, समाज और यथार्थ के अनुरूप बनाना पड़ता है, जिससे वह दर्शकों के लिए विश्वसनीय और प्रभावशाली बन सके।

नाटक की भाषा लेखक की न होकर, वह कालानुसार और पात्रानुसार होनी आवश्यक है। नाटक के संवाद प्रेषक की संवेदना को स्पर्श करते हैं और नाटक तात्कालिक जीवन अभिव्यक्ति से जुड़ा होता है। जिस तरह अभिनय, प्रकाश योजना, रूपसज्जा आदि नाट्य कला के अंग हैं, उसी तरह नाटक भी नाट्य कला का महत्त्वपूर्ण घटक है। नाट्य रचना और उसका प्रदर्शन दोनों भिन्न कलाएँ हैं। नाट्य कला के दो महत्त्वपूर्ण घटक हैं — नाट्य रचना और उसका प्रदर्शन। दोनों भिन्न कलाएँ नहीं गिनी जातीं, फिर भी यह साहित्यिक विधान नहीं है, बल्कि ऐसी अलग विधा है जिसमें दर्शक और रंगमंच होना प्रथम शर्त होती है।

प्रेषक रंगमंच पर घटित घटना का अनुभव करते हैं। अनुष्ठान में प्रेषक नृत्य और संगीत कला के समक्ष ठहरता है क्योंकि ये तीनों कलाएँ दर्शक के समक्ष प्रस्तुत होती हैं। हालाँकि इन तीनों कलाओं में समानताएँ हैं, लेकिन एक सूक्ष्म अन्तर भी है— संगीत कला में ध्वनि प्रमुख होती है, और उसमें समय-समय पर लय, गति तथा स्वर का बदलाव प्रभाव उत्पन्न करता है। नाटक का सम्बन्ध "क्या है" से अधिक "क्या घट रहा है" अथवा "घटना के घटित होने की प्रक्रिया" से होता है; उसमें क्रिया की निरन्तरता और दृश्य रूप में उसकी प्रस्तुति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। दूसरी बात — संगीत सुनने के लिए थोड़ा-बहुत ज्ञान आवश्यक होता है, पर नाटक में यह बात नहीं है। प्रेषक सीधे हृदय और मन से नाटक का भाव अनुभव कर सकता है। यह आवश्यक नहीं कि उसे नाटक के अन्य सूक्ष्म या निश्चित अंगों का ज्ञान हो। प्रेषक बिना कुछ जाने भी सिर्फ अनुभूति के पश्चात प्रतिक्रिया दे सकता है। नाटक का जो कुछ प्रस्तुत होता है, वह निर्देशक और अभिनेता द्वारा रंगमंच पर सामने आता है।

रचयिता को नाटक लिखते समय तय करना पड़ता है कि क्या वह अपना भाव ठीक तरह से नाटक की सभी गुणवत्ता के साथ प्रेषक तक पहुँचा पा रहा है या नहीं। नाटक रंगमंच पर उपस्थित होने से पहले साहित्यकार के मस्तिष्क में पहले उपस्थित होता है। नाटक लिखते समय नाटककार का उद्देश्य मात्र लेखन नहीं, बल्कि उसकी अभिव्यक्ति होती है।

नाटक की भाषा नाटककार की न होकर श्रोताओं की होती है। संवादों में ध्वनि के उतार-चढ़ाव का ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रत्येक शब्द और वाक्य का अपना महत्त्व होता है। मन में स्थित कल्पना को मानवीय रूप देना पड़ता है। संवाद नाटकीय होते हैं। भावना के स्पंदन, वाक्यों द्वारा उत्थान-पतन व्यक्त करने के लिए नाटक के वाक्य नाटकीय होते हैं। शब्द तभी सार्थक होते हैं, जब वे अभिनेता द्वारा उच्चरित किये जाते हैं। उद्गार के क्षणों में वह पात्र किस मानसिक स्थिति में है, किस शारीरिक क्रिया में है — ये सब बातें नाटक को प्रभावशाली बनाने में सहायक होती हैं।

नाटक की रचना समयानुकूल होती है, क्योंकि रंगमंच पर क्या घटित होगा, इसके लिए नाटककार को प्रेषक की रुचि, अभिरुचि, ज्ञानधारा की जानकारी होना आवश्यक है। तभी नाटककार के मस्तिष्क में नाटक पहले से तैयार होता है।

नाटक लेखन के पश्चात वह निर्देशक के हाथ में जाता है, जो नाटककार की भावना को साकार करने के लिए अभिनेता और रंगकर्मियों की एक टीम तैयार करता है। वह अभिनेता को भूमिका देता है, उन्हें संवाद और अभिनय की शिक्षा देता है और नाटककार की अभिप्रेत भावना को रंगमंचीयता प्रदान कर दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। नाटक जब रंगमंच पर आता है, लेखक नाममात्र रह जाता है। यहाँ आकर नाटककार पृष्ठभूमि में चला जाता है। नाटक की प्रस्तुति का पूरा दायित्व निर्देशक के कन्धों पर होता है। एक कुशल निर्देशक अपनी कल्पनाशक्ति और नाटककार द्वारा दिये गये रंग संकेतों के प्रतीकों, घटनाओं और उद्देश्यों की सहायता से नाटक को मूर्त रूप देता है।

नाटक की बागडोर प्रारम्भ में निर्देशक के हाथ में होती है, किन्तु जब नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत होता है, तब यह बागडोर अभिनेता के हाथ में आ जाती है। उस समय अभिनेता और दर्शक आमने-सामने होते हैं, जबकि नाटककार और निर्देशक


Edit with WPS Office

पृष्ठभूमि में चले जाते हैं। नाट्यलेखन, निर्देशन, अभिनय और रंगकर्म — ये सभी एक-दूसरे से जुड़ी हुई कड़ियाँ हैं, जो मिलकर नाटक को रंगमंच पर सफलता दिलाती हैं। इनमें निर्देशक की भूमिका विशेष रूप से सक्रिय, सृजनात्मक और मार्गदर्शक होती है। यदि कभी संवाद प्रस्तुति में बाधा उत्पन्न करें, तो निर्देशक को उन्हें बदलने का निर्णय भी लेना पड़ता है।

नाटक रंगमंच के बिना अधूरा होता है। नाटक और रंगमंच एक-दूसरे के पूरक हैं तथा परस्पर निर्भर भी है। नाटक, नाट्यकला का एक प्रमुख अंग है, जबकि निर्देशन, रंग-सज्जा, अभिनय आदि उसके अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। मंच इन सभी का आधार है। नाटक तभी अपनी सम्पूर्णता प्राप्त करता है जब वह रंगमंच पर जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसी कारण नाटक को एक पुनर्प्रस्तुति-प्रधान विधा माना जाता है। इसकी पहली प्रस्तुति नाटककार द्वारा लेखन रूप में होती है, जबकि दूसरी प्रस्तुति रंगमंच पर निर्देशक, अभिनेता एवं अन्य रंगकर्मियों के सहयोग से साकार होती है।

दर्शक समूह रूप में नाटक को देखते हैं। रंगमंच पर दर्शक, समाज का प्रतीक होते हैं। नाटक का मूल कार्य भावनाओं की अभिव्यक्ति होता है, और रंगमंच इस अभिव्यक्ति को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करने का माध्यम बनता है। रंगमंच पर जो कुछ प्रस्तुत किया जाता है, वह यथार्थ को प्रदर्शित करता है — जैसा है, वैसा ही। अन्ततः, दर्शक ही यह निर्णय लेते हैं कि उन्होंने जो कुछ देखा और सुना, वह कैसा था। नाटक की एक प्रमुख जिम्मेदारी यह भी होती है कि वह दर्शकों के भीतर उठने वाले प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करे। वहीं, दर्शक नाटक के माध्यम से केवल मनोरंजन ही नहीं, बल्कि दर्शन और विचार भी प्राप्त करना चाहते हैं। यदि नाटक जीवन की सच्चाई और विभिन्न दृश्य-परिस्थितियों को अभिव्यक्त नहीं करता, तो दर्शक उसे स्वीकार नहीं करेंगे।

मंच सज्जा

मंच सज्जा को दृश्य सज्जा, दृश्य बांधा या दृश्य व्यवस्था जैसे पर्यायवाची शब्दों से जाना जाता है। यह रंगमंच का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपकरण है, जो नाट्य-प्रस्तुति के दौरान सबसे पहले दर्शकों के सामने आता है। मंच सज्जा नाट्यवस्तु का सूक्ष्म संकेत होता है और मंचीय काव्य का पूर्वाभास कराती है। यहीं से दर्शक अपनी मनोरंजन यात्रा की शुरुआत करते हैं। मंच सज्जा के माध्यम से ही नाटक के लिए आवश्यक वातावरण का निर्माण सम्भव होता है। इसके द्वारा नाटक की प्रस्तुति अधिक आकर्षक बनती है और यह आकर्षण अन्त तक दर्शकों को बाँधे रखता है। मंच सज्जा नाटककार की भावनाओं और विचारों को अधिक सुबोध (सुलभ एवं समझने योग्य) बना देती है, जिससे साधारण दर्शक भी नाटक की गहराई को समझने और उसका आनन्द लेने में सक्षम हो जाते हैं। जैसे नाटक की कथावस्तु और शिल्प महत्त्वपूर्ण होते हैं, वैसे ही उसकी उपयुक्त प्रस्तुति के लिए मंच सज्जा भी उतनी ही प्रभावशाली और आवश्यक होती है। यह नाटक के कलेवर को दृश्यात्मक समर्थन प्रदान करती है और रंगमंचीय अनुभव को सम्पूर्ण बनाती है।

मंच सज्जा के दो महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होते हैं। एक, इसके द्वारा नाटक और उसकी प्रस्तुति को अधिक-से-अधिक सम्मोहक बनाना तथा दूसरा, मंच सज्जा के माध्यम से नाटक में निहित वस्तु-सत्य को पूर्ण रूप में अभिव्यक्त करना और उसे सर्वसामान्य के लिए सुबोध बनाना।

मंच सज्जा का प्रयोजन नाटक की कथावस्तु, पात्रों, क्रियाकलापों आदि को रंगमंच पर प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करना होता है। विषयवस्तु के अनुरूप नाटक के लिए एक विशिष्ट पृष्ठभूमि आवश्यक होती है। इस पृष्ठभूमि का निर्माण विभिन्न साजो-सामान की योजना द्वारा करना पड़ता है। अक्सर नाटककार अपने नाटक में मंच सज्जा के संकेत देता है, और उसी के अनुसार मंच सज्जा की जाती है। किन्तु कभी-कभी निर्देशक, नाटककार द्वारा निर्दिष्ट मंच सज्जा से हटकर अपनी रचनात्मक दृष्टि के अनुरूप भी मंच सज्जा का प्रयोग करता है और नाटक को एक नया रूप देता है। मंच सज्जा के विषय में डॉ. केदारनाथ सिंह ने लिखा है कि नाटक के परिवेश को रंग-प्रस्तुति में स्पष्ट एवं प्रभावशाली रूप से प्रस्तुत किया जाता है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में मंच सज्जा की एक सशक्त और समृद्ध परम्परा विकसित हुई है, जो हिन्दी रंगमंच के उज्जवल भविष्य का प्रतीक है।

प्रेक्षागृह और दर्शक

Edit with WPS Office

रंगमंच के भौतिक पक्ष 'प्रेक्षागृह और दर्शक' नाट्य लेखन से लेकर नाट्य प्रदर्शन तक को प्रभावित करते हैं। रंगमंच में अनेक दृश्य, देश-काल, घटनाएँ और महाकाव्य उचित नाट्य व्यापार के साथ प्रस्तुत होते हैं। रंगमंच का भीतरी भाग—रंगभूमि, स्टेज और रंगशाला (ऑडिटोरियम)—केवल रूप और आकार मात्र नहीं हैं, बल्कि यह एक जीवन्त स्थान है। रंगशाला के आकार, प्रकार और रंगभूमि का अनुपात अपने प्रभाव के कारण अत्यन्त उल्लेखनीय होता है।

थिएटर ऑफ डायग्नोसिस में दर्शकों के बैठने का क्षेत्र और उसके मंच का प्रकार किस प्रकार प्रभावित करता है, तथा ये दोनों तत्त्व नाट्य लेखन और निर्देशन को किस तरह प्रभावित करते हैं, यह एक रोचक तथ्य है। नाटक और दर्शक या श्रोता का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध होता है; ये दोनों परस्पर निर्भर हैं। इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि कोई भी नाटक रंगमंच पर ही पूर्णता प्राप्त करता है। रंगमंच का नियामक दर्शक ही होता है, इसलिए दर्शकों पर नाटक का जो प्रभाव पड़ता है, उसी के माध्यम से दर्शक संवेदनाएँ व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार नाटकों का निर्माण दर्शकों के मनोरंजन एवं उद्बोधन के लिए होता है। अतः दर्शकों के अभाव में न तो नाटक का रसास्वादन सम्भव है और न ही उसके प्रभाव एवं परिणाम का मूल्यांकन किया जा सकता है। इसलिए नाटक और रंगमंच का एक महत्त्वपूर्ण घटक दर्शक होता है। वह व्यक्ति जो नाट्यशाला में बैठकर नाटक देखता है, वही वास्तविक दर्शक होता है। दर्शक शब्द के पर्यायवाची के रूप में 'प्रेषक' शब्द का भी उपयोग किया जाता है।

दर्शन और नाटक के सम्बन्धों पर डॉ. नेमीचन्द जैन ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है–"नाटक के मूल्यांकन का एक अनिवार्य तत्त्व दर्शक है, जो नाटक की रचना में भी एक महत्त्वपूर्ण स्तर पर आता है। यदि दर्शक वर्ग की चेतना और नाटककार की अनुभूति तथा उसकी अभिव्यक्ति के बीच इतना व्यवधान हो कि सम्प्रेषण ही न हो सके, तो वास्तविक नाटक की सृष्टि सम्भव नहीं।"

दर्शक नाटक के रंगमंच का एक महत्त्वपूर्ण घटक होता है। कोई भी नाटक पहले पढ़ा जाता है और बाद में मंचित किया जाता है। अतः पाठकों की संवेदनाएँ दर्शकों की संवेदनाओं के रूप में समाहित होती हैं। कोई भी निर्देशक नाटक को मंचित करने से पहले उसे पढ़ता है। इस दृष्टि से नाटककार स्वयं नाटक का पहला पाठक होता है। इसके अलावा नाटक के दर्शक भी नाटक को पढ़ते हैं। सामान्यतः देखा जाता है कि जिस प्रकार नाटक दर्शकों पर प्रभाव डालता है, उसी प्रकार लेखक और रंगकर्मियों के समस्त प्रयास दर्शकों को केन्द्र में रखकर किये जाते हैं।

किसी भी नाट्य प्रस्तुति की सफलता और सार्थकता सिद्ध करने के लिए दर्शकों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। दर्शकों के सम्बन्ध में खास बात यह है कि नाटक देखने के लिए विभिन्न व्यक्ति सामाजिक, शैक्षिक, आयु वर्ग और विचारों में भिन्न होते हैं। इसी कारण उनकी पसन्द-नापसन्द और सोच भी अलग-अलग होती है। दर्शक समूह की यही विविधता नाटक की रचना प्रक्रिया पर भी प्रभाव डालती है।

इस प्रकार, नाटक एक सामाजिक और गतिशील कला है, जो जीवन की भाँति निरन्तर विकासशील और परिवर्तनशील रहती है। रंगमंच पर दर्शक केवल एक व्यक्ति नहीं होता, बल्कि वह एक समूह या समुदाय के रूप में उपस्थित रहता है, क्योंकि रंगमंच की प्रस्तुति के दौरान सभी दर्शक एक समान भावनात्मक अनुभूति में बँध जाते हैं। एक सामाजिक संस्था के रूप में रंगमंच ने दर्शकों को समय-समय पर विभिन्न रूपों में आकर्षित किया है—कभी यह दर्शकों के लिए मन्दिर बन गया, कभी न्यायालय, कभी प्रचार का केन्द्र, तो कभी काव्यात्मक पूजा स्थल। कभी यह फैशन परेड जैसा प्रतीत हुआ, तो कभी मिलन-स्थल और कभी-कभी बौद्धिक विमर्श और विलास का मंच भी बना। वास्तव में, रंगमंच का व्यक्तित्व दर्शकों की पसन्द, रुचि और समाज द्वारा मिले संरक्षण के अनुरूप ही निरन्तर रूपान्तरित और विकसित होता रहा है।

अभिनय के प्रकार :

साहित्य में अनेक विधाएँ हैं :- इन विधाओं में एक दृश्य काव्य और दूसरा श्रव्य काव्य है। दृश्य काव्य का अंग नाटक है और नाटक को अभिनीत किया जाता है। साहित्य की अन्य विधाओं से नाटक एक अलग विधा है। इसका कारण अभिनय है,


Edit with WPS Office

अभिनय नाटक का प्राण तत्त्व है। अभिनय प्रवृत्ति-परक कला है। प्रत्येक व्यक्ति समय-समय पर अभिनय करता है। व्यक्ति जन्म से ही अभिनेता होता है। बच्चे जब खेलते हैं, तब वे अपनी कल्पनाशक्ति का परिचय देते हैं। कभी रेलगाड़ी बनाते हैं, तो कभी मोटरगाड़ी, कभी शिक्षक तो कभी चोर, दुकानदार, सिपाही बारी-बारी से बनते हैं। अभिनय कोई दैवी गुण नहीं है और न ही कोई विशिष्ट मानव-अनुभव; दैनिक जीवन के आम अनुभवों, भावावेशों, क्रिया-प्रतिक्रिया तथा आशा-निराशा से जुड़ा अभिनय है। यही कारण है कि गम्भीर अभिनय से जिन्दगी की समझ बढ़ती है, लोगों के व्यवहारों और मानसिकताओं की परतें खुलती हैं। कुल मिलाकर आदमी अन्ततः जीने की कला से जुड़ जाता है। कुछ लोग स्वभाव से अभिनेता होते हैं और कुछ अपनी कुशाग्र बुद्धि और मेहनत के बल पर अभिनय की बारीकियाँ हासिल करते हैं। अभिनय के इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्य भरतमुनि ने कहा है–

“विभावयति यस्माच्च नानार्थानिह प्रयोगतः।

शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥”

अर्थात्, जिसके सांगों-पांग प्रयोग से नाट्य के विविध अर्थों को समाज में विभावन या रसास्वादन कराया जाता है, उसे अभिनय कहते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में अवस्था नुसार को अभिनय बताया है–

“भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः।”

जिसमें अभिनेता द्वारा शरीर, मन और वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है, उसे अभिनय कहते हैं।

अभिनय की परिभाषा :

1) डॉ. दशरथ ओझा : “अभिपूर्वक 'नी' धातु और 'अच' प्रत्यय के योग से 'अभिनय' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है हृदय के भावों को प्रकाशित करने वाली आंगिक चेष्टा। स्पष्टतः बाह्य चेष्टाओं के साथ हृदयस्थ भावों की अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति भी अभिनय द्वारा अभिप्रेत है।”

2) जीवन प्रकाश जोशी : “किसी नाट्य कृति का जन साधारण के सामने कलात्मक प्रस्तुतीकरण अभिनय है।”

अभिनय एक कला है, जिसके द्वारा नट के क्रियाकलापों, वेशभूषा, विविध चेष्टाओं एवं भाव-भंगिमाओं को रंगमंच पर प्रदर्शित कर दर्शकों का मनोरंजन किया जाता है। पात्रों के अनुरूप देशकालोचित वेश-भूषा का संयोजन करता है और अभिनेय पात्रों के मानसिक भावों को प्रस्तुत करता है। अभिनय की पूर्ण सफलता के लिए अनुकरण, नैपुण्य, दृश्य सौष्ठव, श्रुति-माधुर्य एवं परिहास—इन चार गुणों का होना परम आवश्यक है। अभिनय को अधिक रोचक बनाने के लिए नृत्य, गीत, वाद्य की योजना भी अपेक्षित है। आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के अभिनय का उल्लेख किया है।

आंगिक, 2) वाचिक, 3) आहार्य, 4) सात्विक

1) आंगिक अभिनय

विभिन्न प्रकार के अंगों द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले अभिनय को 'आंगिक' अभिनय कहते हैं। वाणी द्वारा काव्य एवं संवादादि का अभिनय 'वाचिक' कहलाता है। जो विधान नेपथ्य के द्वारा उपलब्ध होता है, अर्थात् नेपथ्य रचना का विधान 'आहार्य' अभिनय कहलाता है। जिसमें सुख-दुःखादि मनोभावों का अभिव्रंजन होता है, उसे 'सात्विक' अभिनय कहते हैं।

इस अभिनय के अन्तर्गत शरीर के अंगों का संचलन एवं मुख की विविध आकृतियों एवं चेष्टाओं का प्रयोग किया जाता है। शरीर के अन्तर्गत सिर, कटि, पैर, कपोल, पीठ, हाथ, वक्ष आदि समस्त अंगों की गणना की जाती है। उपांग के अभिनय में सिर की चेष्टाएँ, नाक, मुँह, कपोल आदि शामिल हैं। सिर की चेष्टाएँ भाव अथवा विचारों की द्योतक होती हैं।

Edit with WPS Office

आंगिक अभिनय के प्रकार

शरीरज-(अंगों और उपांगों से युक्त अभिनय)

मुखज-(उपांगों द्वारा किया गया अभिनय)

चेष्टाकृत-(चेष्टा द्वारा किया जाने वाला अभिनय)

आंगिक अभिनय

अंग-(सिर, हस्त, वक्षःस्थल, पार्श्व, कटि और पाद)

प्रत्यंग-(दोनों स्कन्ध, दोनों बाहुपीठ, उदर, दोनों ऊरू और जंघाएँ)

उपांग-(नेत्र, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक)

आंगिक अभिनय शरीर, मुखज तथा चेष्टाकृत तीन प्रकार का होता है। इसकी अंग एवं उपांग शाखाएँ होती हैं। सिर, हस्त, उर, पार्श्व, कटि और पाद, ये आंगिक अभिनय के छह अंग हैं। नेत्र, भ्रू, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक ये इसके छह उपांग हैं। प्रयोगकर्ता नट आदि को इसकी शाखाएँ कहा गया है। इसमें नाट्य विषयक सूचना को इसका अंकुर माना गया है। इस अभिनय में नृत्य का प्रयोग होता है। इस नृत्य में 13 प्रकार के शिर-कर्म होते हैं — आकम्पित, भूम्पित, धूत, विद्युत, परिवाहित, आधूत, अवधूत, अञ्चित, निहञ्चित, परावृत्त, उत्क्षिप्त, अधोगत, लोलित। आठ रस-दृष्टियाँ इसके अन्तर्गत आती हैं — कान्ता, भयानका, हास्य, करुणा, अद्भुत, रौद्र, वीर, वीभत्स। इसी प्रकार स्थायी भावों की आठ दृष्टियाँ भी मानी गयी हैं — स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, अभान्विता, जुगुप्सिता, विस्मिता। इनके अतिरिक्त 16 दृष्टियाँ और कही गयी हैं — शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जाविता, ग्लाना, शंकिता, विषण्णा, मुकुला, कुंचिता, अभितप्ता, जिह्म्या, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकस्, विकोशा, त्रस्ता, मदिरा। इस प्रकार कुल 36 दृष्टियाँ इस अभिनय के अन्तर्गत आती हैं।

2) वाचिक अभिनय :

अभिनय का द्वितीय भेद वाचिक अभिनय है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में इस अभिनय का वर्णन किया है। नाट्य में वाचिक अभिनय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरतमुनि ने वाचिक अभिनय को 'नाट्य का शरीर' कहा है, क्योंकि अभिनय के अंग उसके अर्थ को व्यंजित करते हैं। नाटककार वाचिक अभिनय के आधार पर ही और इसी के माध्यम से, अपनी कथावस्तु को समाज के सामने प्रस्तुत करता है। नाट्य में जिस संवाद शैली या कथोपकथन का प्रयोग किया जाता है, वह जीवन की सम्पूर्ण परिस्थितियों के साथ सजीव रूप में जोड़ा जा सकता है। वाचिक अभिनय का सम्बन्ध वाणी से है। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने कहा है कि ब्रह्माण्ड में वाणी से बढ़कर कुछ नहीं है। वाणी ही समस्त विश्व का कारण है। अभिनेता रंगमंच पर आकर वाणी के माध्यम से जो कुछ भी उच्चरित करता है, वाद-संवाद करता है, वही वाचिक अभिनय है। वाणी ही पूरे विश्व का कारण है, क्योंकि सभी वेदादि शास्त्र एवं विद्याएँ वाणी पर ही निर्भर हैं। इसके बारे में कहा जाता है कि नाटकीय संवाद, हमारे चिन्तन एवं मनन की भाषा की अपेक्षा, जीवन की भाषा के अधिक निकट होता है। पाठ्य या संवाद वाचिक अभिनय का प्राण है। नाट्यशास्त्र में वाचिक अभिनय के छह अंग माने गये हैं—स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलंकार और अंग। वाचिक अभिनय को मानव जीवन की सम्पूर्ण परिस्थितियों के साथ सजीव रूप में जोड़ा जा सकता है।

3) आहार्य अभिनय

आहार्य अभिनय का वर्णन नाट्यशास्त्र के 21वें अध्याय में मिलता है। इस अभिनय के अन्तर्गत पात्र नाट्य के अनुरूप और प्रकृति के अनुरूप वेश, विन्यास, अलंकार, परिधान, अंग रचना, रंगमंच, चैतन्य और अचैतन्य का नाट्यधर्मी व्यक्तित्व का अनुकरण करते हैं। आहार्य अभिनय चार प्रकार का होता है–पुस्तरचना, अलंकरण, अंगरचना, संजीव।

Edit with WPS Office

विविध प्रकार की अवस्थाओं को तथा प्रकृतियों को रंगमंच पर प्रदर्शन करने के पूर्व नेपथ्य में अपने रूप को उस पात्र के अनुकूल साज-सज्जा करना ही इस आहार्य अभिनय का मुख्य उद्देश्य है। नानावस्था, प्रकृतयः पूर्व नेपथ्यसाधितः। आहार्य अभिनय के अन्तर्गत नेपथ्य में किया गया श्रृंगार आदि ही प्रमुख रूप से माना जाता है। हार, केयूर, वेशभूषा आदि प्रसाधनों से सुसज्जित होकर किया जाने वाला अभिनय ही आहार्य अभिनय कहलाता है। आहार्य के माध्यम से पात्र किस देश का है, उसकी क्या स्थिति है, इसका ज्ञान भी इसके माध्यम से होता है। समय परिवर्तनशील होता है, इसलिए रहने का ढंग, उसकी दिनचर्या, क्रियाकलाप, वस्त्र-आभूषण आदि के माध्यम से पात्र के देश-काल, परिस्थिति का ज्ञान होने के बाद ही पात्र के क्या और कैसे, किस वर्ण के वस्त्र होंगे, उसके अस्त्र-शस्त्र कैसे होंगे, उसकी केश-सज्जा कैसी होगी आदि आहार्य के अन्तर्गत होते हैं। वह किस समय का है, इसका ज्ञान भी इसके माध्यम से मिलता है। समय परिवर्तनशील होता है। इसीलिए पात्र के देश-काल, परिस्थिति का ज्ञान होने के बाद ही पात्र के क्या और कैसे, किस वर्ग के वस्त्र होंगे, उसके अस्त्र-शस्त्र कैसे होंगे, उसकी केश-सज्जा कैसी होगी आदि आहार्य के अन्तर्गत होते हैं। यदि कोई नट किसी नेता का पात्र उतारता है, तब वह भारतीय वेश-भूषा के अनुसार कुर्ता-पायजामा पहनेगा, हाथ में घड़ी पहन लेगा, सिर पर टोपी लगाएगा—इस प्रकार की वेश-भूषा राजनेता की पहचान बनती है। संन्यासी का पात्र करने पर वही नट लाल या केसरिया वस्त्र पहनेगा, जटाएँ धारण करेगा, रुद्राक्ष या तुलसी की माला धारण करेगा, हाथ में कमण्डलु धारण करेगा, दण्ड भी धारण करेगा—इस प्रकार का ध्यान आहार्य के अन्तर्गत रखा जाता है।

4) सात्विक अभिनय

बिना किसी प्रयत्न के शरीर की स्वाभाविक क्रिया ही सात्त्विक भाव है, और जब इसी भाव का नायक आदि के द्वारा अनुकरण किया जाता है, तब यह अभिनय 'सात्विक अभिनय' कहलाता है। भरतमुनि ने सात्विक अभिनय को उत्तम कोटि का अभिनय माना है। इसके अन्तर्गत आठ सात्विक गुणों (भावों) का परिगणन किया गया है—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय। इसमें प्रसन्न होने पर मुस्कान आ जाना, दु:ख की स्थिति में आँखों से आँसू आना, भयभीत होने के कारण मुखमण्डल का पीला हो जाना आदि प्रकार से यह सात्विक अभिनय प्रकट होता है। इसमें भावों के आवेगों के परिणाम स्वतः ही प्रस्फुटित होते हैं। इसके अन्तर्गत अभिनेता पात्र को समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। जैसे, कोई नायक राम के पात्र को प्रस्तुत करता है, तब वह समाज के सामने राम के सहज गुणों को प्रदर्शित करता है। हमारे अंगों के जो विकार हृदय में स्थित भावदशा को बाहर प्रकट कर देते हैं, उन्हें भावों का अभिनय मानकर 'सात्विक अभिनय' की संज्ञा दी गयी है।

अभिनय की अनेक विशेषताएँ हो सकती हैं। उन्हीं विशेषताओं के आधार पर नाटक की अभिनेयता का अध्ययन किया जाता है। नाटक में निर्देशक, रूपसज्जा, दृश्यसज्जा, प्रकाश योजना, ध्वनि एवं संगीत, संवाद, भाषा आदि का विशेष योगदान होता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न :

टिप्पणी लिखिए:

रंगमंच और नाटक का अंतर्संबंध

नाट्य प्रस्तुति में 'मंच सज्जा' का महत्त्व एवं उद्देश्य

रंगमंच में प्रेक्षागृह और दर्शक की भूमिका

अभिनय का स्वरूप एवं उसके प्रमुख भेद

वाचिक एवं आहार्य अभिनय का परिचय

दीर्घोत्तरी प्रश्न :

Edit with WPS Office

प्रश्न 1: नाटक और रंगमंच के अंतर्संबंध को स्पष्ट करते हुए नाट्य प्रस्तुति में 'मंच सज्जा' तथा 'प्रेक्षागृह एवं दर्शक' के महत्त्व और भूमिका की विस्तृत विवेचना कीजिए।

प्रश्न 2: अभिनय से क्या तात्पर्य है? विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई अभिनय की परिभाषाओं का उल्लेख करते हुए भरतमुनि के अनुसार अभिनय के चारों प्रमुख प्रकारों (आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक) का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रश्न 3: "नाटक एक पुनर्प्रस्तुतिमूलक एवं सामाजिक विधा है।" इस कथन के आलोक में नाटककार, निर्देशक, अभिनेता और दर्शक के पारस्परिक संबंधों तथा नाट्य प्रस्तुति की प्रक्रिया का सोदाहरण विश्लेषण कीजिए।

4.0 नाटक तथा नेपथ्य

रंगमंच का अर्थ है प्रत्यक्ष अभिनय के माध्यम से किसी भाव, विचार या कथा की अभिव्यक्ति करना। रंगमंच लेखक के विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। रंगमंच अन्य मनोरंजन की विधाओं से अलग महत्त्व रखता है। नाटक शब्द रंगमंच से जुड़ा है। 'नाटक' और 'रंगमंच' — ये दोनों परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं, जो मिलकर रंगमंचीय कला की पूर्णता को दर्शाते हैं। नाटक का निर्माण रंगमंच पर खेलने के लिए होता है। यह दृश्य विधा है। वास्तव में रंगमंच मानव की एक सनातन प्रवृत्ति है। इसी कारण नाटक और रंगमंच के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो चुका है। रंगमंच के बिना नाटक और नाटक के बिना रंगमंच — दोनों की कल्पना नहीं की जा सकती। कोई भी श्रेष्ठ नाटककार रंगमंच की उपेक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि रंगमंच पर ही नाटक को अपनी सम्पूर्णता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से नाटक और रंगमंच दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं। रंगमंच की उपेक्षा करके कोई भी नाटककार महान नाटककार नहीं बन सकता। नाटक और रंगमंच के परस्पर सम्बन्ध को समझने और उसे मूर्त रूप देने का कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। भारतेन्दु ने युग की नब्ज पहचान कर नाटक की विषयवस्तु को समकालीन रंग दिया, उसे मंचीयता प्रदान की, और अभिनय व निर्देशन जैसे पक्षों में स्वयं अनुभव प्राप्त किया। भारतेन्दु के नाटकों की विषयवस्तु पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक अधिक रही। सामाजिक नाटकों की संख्या अधिक मात्रा में रही है। उनके बहुत से नाटकों का मंचन हुआ है। लेकिन रंगमंच को ध्यान में नहीं रखा। नाटक साहित्य की अन्य विधाओं में सबसे अधिक रमणीय माना जाता है, क्योंकि वह दृश्य होने के कारण जीवन का वर्णन करने के बजाय उसे प्रत्यक्ष रूप में मंच पर प्रस्तुत करता है, जिससे कलात्मक वर्णन की आवश्यकता नहीं रह जाती। नाटक में श्रोता या दर्शक पात्रों के जीवन को अपने सामने देखते हैं। नाटक में मनुष्य का जीवन प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने प्रस्तुत होता है। नाटक की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें अतीत और वर्तमान होता है और दोनों वर्तमान में अभिव्यक्त होते हैं। नाटक की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह सभी वर्गों के लोगों को समान रूप से आकृष्ट करता है — चाहे वे नागरिक हों या ग्रामीण, बालक हों या वृद्ध, शिक्षित हों या अशिक्षित; स्त्री और पुरुष सभी उसे देखकर आनन्दित होते हैं। नृत्य, गीत, संगीत, ध्वनि-प्रकाश योजना के कारण नाटक में एक समन्वित प्रभाव निर्माण होता है, जो दर्शकों को आप्लावित करता है।

नाटक की कला एक बहुआयामी, सामूहिक और सामाजिक कला है, जिसमें जीवन की वास्तविकताओं का उद्घाटन होता है। रंगमंच और नाटक, यद्यपि दो अलग-अलग सत्ताएँ हैं, फिर भी वे परस्पर पूरक हैं, क्योंकि नाटक का विकास रंगमंच के कारण हुआ है और रंगमंच का अस्तित्व नाटक के बिना सम्भव नहीं है। साहित्य और कला में नाटक की अपनी एक विशिष्ट विधागत पहचान होती है। साहित्य के अन्य रूपों में साहित्यकार शब्दों के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति करता है, और उसकी रचना प्रकाशन के साथ ही पाठकों तक पहुँच जाती है। इसके पश्चात् लेखक की भूमिका लगभग समाप्त हो जाती है। परंतु जहाँ तक नाटक का प्रश्न है, वह यद्यपि एक साहित्यिक विधा है, फिर भी वह एक पुनर्प्रस्तुतिमूलक विधा है। नाटक का जन्म अनुष्ठान से हुआ माना जाता है। भारतीय और पाश्चात्य दोनों परम्पराओं में नाटक की उत्पत्ति धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़ी मानी गयी है, जिसे चाक्षुष यज्ञ कहा गया है। नाटक को लिखने के बाद उसका मंचन आवश्यक होता है, जिससे वह सीधे दर्शकों तक पहुँचे। इसमें प्रेषक (कलाकार/नाट्यकार) और दर्शक के बीच कोई अन्य माध्यम नहीं होता। यही कारण है कि नाटक को मंचित करते समय

Edit with WPS Office

कई व्यावहारिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। नाटक को अपने समय, समाज और यथार्थ के अनुरूप बनाना पड़ता है, जिससे वह दर्शकों के लिए विश्वसनीय और प्रभावशाली बन सके।

नाटक की भाषा लेखक की न होकर, वह कालानुसार और पात्रानुसार होनी आवश्यक है। नाटक के संवाद प्रेषक की संवेदना को स्पर्श करते हैं और नाटक तात्कालिक जीवन अभिव्यक्ति से जुड़ा होता है। जिस तरह अभिनय, प्रकाश योजना, रूपसज्जा आदि नाट्य कला के अंग हैं, उसी तरह नाटक भी नाट्य कला का महत्त्वपूर्ण घटक है। नाट्य रचना और उसका प्रदर्शन दोनों भिन्न कलाएँ हैं। नाट्य कला के दो महत्त्वपूर्ण घटक हैं — नाट्य रचना और उसका प्रदर्शन। दोनों भिन्न कलाएँ नहीं गिनी जातीं, फिर भी यह साहित्यिक विधान नहीं है, बल्कि ऐसी अलग विधा है जिसमें दर्शक और रंगमंच होना प्रथम शर्त होती है।

प्रेषक रंगमंच पर घटित घटना का अनुभव करते हैं। अनुष्ठान में प्रेषक नृत्य और संगीत कला के समक्ष ठहरता है क्योंकि ये तीनों कलाएँ दर्शक के समक्ष प्रस्तुत होती हैं। हालाँकि इन तीनों कलाओं में समानताएँ हैं, लेकिन एक सूक्ष्म अन्तर भी है—संगीत कला में ध्वनि प्रमुख होती है, और उसमें समय-समय पर लय, गति तथा स्वर का बदलाव प्रभाव उत्पन्न करता है। नाटक का सम्बन्ध "क्या है" से अधिक "क्या घट रहा है" अथवा "घटना के घटित होने की प्रक्रिया" से होता है; उसमें क्रिया की निरन्तरता और दृश्य रूप में उसकी प्रस्तुति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। दूसरी बात — संगीत सुनने के लिए थोड़ा-बहुत ज्ञान आवश्यक होता है, पर नाटक में यह बात नहीं है। प्रेषक सीधे हृदय और मन से नाटक का भाव अनुभव कर सकता है। यह आवश्यक नहीं कि उसे नाटक के अन्य सूक्ष्म या निश्चित अंगों का ज्ञान हो। प्रेषक बिना कुछ जाने भी सिर्फ अनुभूति के पश्चात् प्रतिक्रिया दे सकता है। नाटक का जो कुछ प्रस्तुत होता है, वह निर्देशक और अभिनेता द्वारा रंगमंच पर सामने आता है।

रचयिता को नाटक लिखते समय तय करना पड़ता है कि क्या वह अपना भाव ठीक तरह से नाटक की सभी गुणवत्ता के साथ प्रेषक तक पहुँचा पा रहा है या नहीं। नाटक रंगमंच पर उपस्थित होने से पहले साहित्यकार के मस्तिष्क में पहले उपस्थित होता है। नाटक लिखते समय नाटककार का उद्देश्य मात्र लेखन नहीं, बल्कि उसकी अभिव्यक्ति होती है।

नाटक की भाषा नाटककार की न होकर श्रोताओं की होती है। संवादों में ध्वनि के उतार-चढ़ाव का ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रत्येक शब्द और वाक्य का अपना महत्त्व होता है। मन में स्थित कल्पना को मानवीय रूप देना पड़ता है। संवाद नाटकीय होते हैं। भावना के स्पंदन, वाक्यों द्वारा उत्थान-पतन व्यक्त करने के लिए नाटक के वाक्य नाटकीय होते हैं। शब्द तभी सार्थक होते हैं, जब वे अभिनेता द्वारा उच्चरित किये जाते हैं। उद्गार के क्षणों में वह पात्र किस मानसिक स्थिति में है, किस शारीरिक क्रिया में है — ये सब बातें नाटक को प्रभावशाली बनाने में सहायक होती हैं।

नाटक की रचना समयानुकूल होती है, क्योंकि रंगमंच पर क्या घटित होगा, इसके लिए नाटककार को प्रेषक की रुचि, अभिरुचि, ज्ञानधारा की जानकारी होना आवश्यक है। तभी नाटककार के मस्तिष्क में नाटक पहले से तैयार होता है।

नाटक लेखन के पश्चात् वह निर्देशक के हाथ में जाता है, जो नाटककार की भावना को साकार करने के लिए अभिनेता और रंगकर्मियों की एक टीम तैयार करता है। वह अभिनेता को भूमिका देता है, उन्हें संवाद और अभिनय की शिक्षा देता है और नाटककार की अभिप्रेत भावना को रंगमंचीयता प्रदान कर दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। नाटक जब रंगमंच पर आता है, लेखक नाममात्र रह जाता है। यहाँ आकर नाटककार पृष्ठभूमि में चला जाता है। नाटक की प्रस्तुति का पूरा दायित्व निर्देशक के कन्धों पर होता है। एक कुशल निर्देशक अपनी कल्पनाशक्ति और नाटककार द्वारा दिये गये रंग संकेतों के प्रतीकों, घटनाओं और उद्देश्यों की सहायता से नाटक को मूर्त रूप देता है।

नाटक की बागडोर प्रारम्भ में निर्देशक के हाथ में होती है, किन्तु जब नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत होता है, तब यह बागडोर अभिनेता के हाथ में आ जाती है। उस समय अभिनेता और दर्शक आमने-सामने होते हैं, जबकि नाटककार और निर्देशक पृष्ठभूमि में चले जाते हैं। नाट्यलेखन, निर्देशन, अभिनय और रंगकर्म — ये सभी एक-दूसरे से जुड़ी हुई कड़ियाँ हैं, जो मिलकर नाटक को रंगमंच पर सफलता दिलाती हैं। इनमें निर्देशक की भूमिका विशेष रूप से सक्रिय, सृजनात्मक और मार्गदर्शक होती है। यदि कभी संवाद प्रस्तुति में बाधा उत्पन्न करें, तो निर्देशक को उन्हें बदलने का निर्णय भी लेना पड़ता है।

नाटक रंगमंच के बिना अधूरा होता है। नाटक और रंगमंच एक-दूसरे के पूरक हैं तथा परस्पर निर्भर भी है। नाटक, नाट्यकला

Edit with WPS Office

का एक प्रमुख अंग है, जबकि निर्देशन, रंग-सज्जा, अभिनय आदि उसके अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। मंच इन सभी का आधार है। नाटक तभी अपनी सम्पूर्णता प्राप्त करता है जब वह रंगमंच पर जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसी कारण नाटक को एक पुनर्प्रस्तुति-प्रधान विधा माना जाता है। इसकी पहली प्रस्तुति नाटककार द्वारा लेखन रूप में होती है, जबकि दूसरी प्रस्तुति रंगमंच पर निर्देशक, अभिनेता एवं अन्य रंगकर्मियों के सहयोग से साकार होती है।

दर्शक समूह रूप में नाटक को देखते हैं। रंगमंच पर दर्शक, समाज का प्रतीक होते हैं। नाटक का मूल कार्य भावनाओं की अभिव्यक्ति होता है, और रंगमंच इस अभिव्यक्ति को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करने का माध्यम बनता है। रंगमंच पर जो कुछ प्रस्तुत किया जाता है, वह यथार्थ को प्रदर्शित करता है — जैसा है, वैसा ही। अन्ततः, दर्शक ही यह निर्णय लेते हैं कि उन्होंने जो कुछ देखा और सुना, वह कैसा था। नाटक की एक प्रमुख जिम्मेदारी यह भी होती है कि वह दर्शकों के भीतर उठने वाले प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करे। वहीं, दर्शक नाटक के माध्यम से केवल मनोरंजन ही नहीं, बल्कि दर्शन और विचार भी प्राप्त करना चाहते हैं। यदि नाटक जीवन की सच्चाई और विभिन्न दृश्य-परिस्थितियों को अभिव्यक्त नहीं करता, तो दर्शक उसे स्वीकार नहीं करेंगे।

नाटक मंचन और श्रृंगार

नाट्यशास्त्र में 'शृंगार' का अर्थ है-शारीरिक सज्जा, वेशभूषा, मेकअप और आभूषणों द्वारा पात्र को उसकी भूमिका के अनुसार रूपान्तरित करना। यह मुख्य रूप से दो स्तरों पर होता है, एक है चेहरे और अंगों का श्रृंगार और दूसरा वेशभूषा, आभूषण और बाहरी साज-सज्जा। कलाकारों को उनकी भूमिका के अनुसार वेशभूषा, मेकअप, आभूषण और सज्जा के माध्यम से प्रस्तुत करना ही श्रृंगार है। नाट्यकला में श्रृंगार का विशेष स्थान है। यह मंच पर प्रस्तुत पात्रों के रूप, व्यक्तित्व और भाव को उभारने का माध्यम होता है। नाटक में श्रृंगार केवल सौन्दर्य के लिए नहीं, बल्कि पात्र की पहचान, यथार्थता, भाव अभिव्यक्ति और दृश्य सौन्दर्य के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। श्रृंगार के बिना नाटक अधूरा और प्रभावहीन लगता है। नाटक में श्रृंगार के प्रकारों में सामान्य श्रृंगार जिसमें चेहरे को साफ, उजला और रंगीन बनाया जाता है। दूसरा चरित्र आधारित श्रृंगार है जैसे कि रावण के लिए डरावना, विदूषक के लिए रंगीन और हास्यपूर्ण श्रृंगार आदि है। तीसरा है वेशभूषा का श्रृंगार जैसे कि पोशाक, मुकुट, गहने, तलवार, जनेऊ आदि तथा चौथा है केस सज्जा और मुखौटे पात्र की पहचान और दृश्य प्रभाव बढ़ाने के लिए उपयुक्त है।

नाटक में श्रृंगार केवल बाहरी सजावट नहीं, बल्कि एक सशक्त कलात्मक भाषा है जो पात्रों के अन्तर्जगत, नाटक के वातावरण और सांस्कृतिक सन्दर्भों को दृश्यमान बनाती है। यह दर्शकों को नाटक के साथ भावनात्मक रूप से जोड़कर एक अविस्मरणीय अनुभव प्रदान करता है। आधुनिक थिएटर में भी, श्रृंगार की यह भूमिका प्रासंगिक बनी हुई है। नाटक मंचन में श्रृंगार का महत्त्व अत्यन्त गहरा और बहुआयामी है। यह न केवल दृश्य आकर्षण का साधन है, बल्कि कथानक, पात्रों के व्यक्तित्व, भावनाओं और सांस्कृतिक सन्दर्भों को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करने का माध्यम भी है। श्रृंगार के अन्तर्गत वेशभूषा, मेकअप, आभूषण, मंच सज्जा, प्रकाश व्यवस्था और अन्य दृश्य तत्त्व आते हैं, जो नाटक की समग्र प्रस्तुति को सम्पूर्णता प्रदान करते हैं।

नाटक मंचन में श्रृंगार का महत्त्व

1) पात्र की पहचान :

श्रृंगार से यह स्पष्ट होता है कि कलाकार कौन-सा पात्र निभा रहा है—राजा, रानी, साधु, सैनिक, विदूषक, आदि। नाट्यकला में प्रत्येक पात्र की अपनी भूमिका, वर्ग, मनोवृत्ति, युगीन स्थिति होती है। मंच पर उपस्थित पात्र की पहचान निम्न बातों से होती है, पहला है चरित्र की स्थिति जैसे राजा, रानी, सेवक, साधु, सैनिक, विदूषक, किसान, आदि। दूसरा है युग और संस्कृति — प्राचीन, मध्यकालीन या आधुनिक।

तीसरा है चरित्र की मानसिक अवस्था, जैसे-वीर, विनोदी, क्रोधी, प्रेमी, संन्यासी आदि और अन्त में पात्र की भूमिका की गम्भीरता या हास्यात्मकता, जिससे दर्शक तुरन्त समझ सकें कि यह पात्र कौन है और उसका स्वभाव क्या है। श्रृंगार के माध्यम

Edit with WPS Office

से पात्र की पहचान होती है। चेहरे का श्रृंगार-नाक, आँखें, भौंहें, गाल और होंठों को मेकअप द्वारा पात्र के अनुकूल रूप दिया जाता है, जैसे क्रोधी पात्र की तीखी भौंहें, प्रेमी पात्र के कोमल भाव आदि। वेशभूषा-राजा के लिए मुकुट और राजवस्त्र; साधु के लिए केसरिया वस्त्र; राक्षस के लिए डरावना पहनावा। आभूषण-पात्र के सामाजिक स्तर के अनुसार होते हैं, जैसे रानी के लिए भारी गहने, किसान के लिए सादा पहनावा। विशेष श्रृंगार में विशेष पात्रों के लिए विशेष रूप, जैसे हनुमान, रावण, नारद आदि का विशिष्ट श्रृंगार होता है। शारीरिक मुद्रा और साज-सज्जा से भी पात्र की पहचान होती है। श्रृंगार के साथ-साथ पात्र के चलने, बैठने, हाव-भाव और शरीर की भाषा से पहचान स्पष्ट होती है। नाट्य मंचन में श्रृंगार और पात्र की पहचान एक-दूसरे के पूरक हैं। यदि पात्र का श्रृंगार प्रभावी और उपयुक्त है, तो वह दर्शकों के मन में अमिट छवि छोड़ता है। इसलिए नाट्य प्रस्तुतियों में श्रृंगार केवल सजावट नहीं, बल्कि भाव, चरित्र और दृश्य सजीवता का आधार है।

2) काल और संस्कृति का संकेत :

श्रृंगार पात्र की ऐतिहासिक, पौराणिक या आधुनिक पृष्ठभूमि को दर्शाता है। नाटक मंचन में श्रृंगार केवल सौन्दर्य का माध्यम नहीं होता, बल्कि यह मंच पर प्रस्तुत कथा, पात्रों और उनके समय-काल तथा संस्कृति का दृश्य संकेत भी देता है। इस प्रकार, श्रृंगार रंगमंच पर कालबोध और संस्कृतिबोध की अभिव्यक्ति का महत्त्वपूर्ण माध्यम बनता है। 'काल' से तात्पर्य उस ऐतिहासिक या सामाजिक युग से है जिसमें नाटक की कथा आधारित होती है, जैसे-प्राचीन युग, मध्यकाल, औपनिवेशिक काल या आधुनिक काल। प्राचीन काल में पुरुष पात्र धोती, अंगवस्त्र, जनेऊ, मुकुट, कमण्डलु का उपयोग करते थे, तो स्त्री पात्र साड़ी, केशविन्यास, गहनों और माथे पर बिन्दी या तिलक के माध्यम से प्रस्तुत की जाती थीं। वेशभूषा हल्के, शान्तिपूर्ण, पारम्परिक रंगों की होती थी, जैसे केसरिया, पीला आदि। रामायण, महाभारत, कालिदास के नाटकों में प्रयुक्त श्रृंगार इस युग के अनुरूप होता था। मध्यकाल में राजसी पोशाकें, जरीदार वस्त्र, ऊँची पगड़ियाँ या साफ़े और भारी आभूषण जैसे झुमके, कड़े, हथफूल आदि प्रचलित थे। आधुनिक काल में वेशभूषा में जीन्स-टीशर्ट, स्कूल यूनिफॉर्म, वकील या डॉक्टर की पोशाक जैसे समकालीन वस्त्र होते हैं। श्रृंगार के माध्यम से ही संस्कृति का संकेत प्राप्त होता है। 'संस्कृति' से तात्पर्य है- लोकाचार, जीवनशैली, परम्पराएँ, रीति-रिवाज, धर्म, कला और सामाजिक संरचना। नाट्य श्रृंगार के माध्यम से अलग-अलग संस्कृतियाँ मंच पर जीवन्त होती हैं। जैसे-भारतीय संस्कृति में मन्दिर की पृष्ठभूमि, पूजा की सामग्री, परम्परागत पहनावे (भरतनाट्यम, रामलीला, कथकली आदि); राजस्थानी संस्कृति में रंग-बिरंगे घाघरा-चोली, पगड़ी, बंधेज प्रिंट, झरोखे, लोकगीत और ढोलक की ध्वनि; महाराष्ट्रीयन संस्कृति में नौवारी साड़ी, पेशवायी टोपी, नथ और चूड़ियाँ आदि; वहीं पश्चिमी संस्कृति में कोट-पैंट, स्कर्ट, सैंडल, गॉगल्स, डिस्को संगीत, बार-रेस्तराँ और अंग्रेज़ी संवाद शैली दिखती है। नाट्य मंचन में श्रृंगार का उद्देश्य केवल पात्रों को सुन्दर दिखाना नहीं, बल्कि उनके समय (काल) और संस्कृति की सजीव प्रस्तुति करना होता है। श्रृंगार दर्शकों को उस युग और समाज में पहुँचा देता है, जहाँ नाटक की कथा घटित होती है। इस प्रकार, श्रृंगार रंगमंच को दृश्य इतिहास और सांस्कृतिक दर्पण बना देता है।

3) दृश्य प्रभाव :

मंच से दूर बैठे दर्शक भी पात्रों के हावभाव और पहचान को आसानी से समझ सकें, इसके लिए श्रृंगार आवश्यक होता है। दृश्य प्रभाव और श्रृंगार रंगमंच की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नाटक मंचन में 'श्रृंगार' और 'दृश्य प्रभाव' एक-दूसरे के पूरक होते हैं। नाटक एक दृश्य-कला है, जिसमें संवाद के साथ-साथ दृश्य प्रस्तुति भी दर्शकों के अनुभव को समृद्ध करती है। मंच पर जब पात्र श्रृंगारित रूप में उपस्थित होते हैं, तब उनका रूप, हावभाव, रंग, वेशभूषा और मेकअप मिलकर ऐसा दृश्य प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जो दर्शकों की कल्पना को सजीव यथार्थ में परिवर्तित कर देता है। दृश्य प्रभाव का अर्थ है-नेत्रों द्वारा ग्रहण किया गया ऐसा मंचीय अनुभव, जो पात्रों, घटनाओं और भावनाओं को प्रभावशाली, आकर्षक और यथार्थपूर्ण बना देता है। श्रृंगार के माध्यम से पात्र मंच पर विशिष्ट दिखते हैं, जिससे उनकी पहचान सहज हो जाती है — जैसे रावण का भव्य श्रृंगार, साधु का सादा रूप, विदूषक के रंगीन कपड़े, चटकीला मेकअप और विचित्र टोपी हास्य का प्रभाव बढ़ाते हैं। रानी के श्रृंगार में भारी आभूषण, सौन्दर्यपूर्ण वेशभूषा मंच पर भव्यता लाते हैं, जबकि भूत या राक्षस पात्र के लिए सफेद-भूरे चेहरे, काली आँखें और गहरे वस्त्र भय का दृश्य प्रभाव उत्पन्न करते हैं। श्रृंगार से भावाभिव्यक्ति की स्पष्टता भी आती है — चेहरे का श्रृंगार आँखों, भौंहों, होंठों के हावभाव को नाटकीय रूप से उभारता है, जैसे क्रोध के दृश्य में लाल रंग तो प्रेम के दृश्य में कोमल रंग का

Edit with WPS Office

प्रयोग किया जाता है। वेशभूषा, आभूषण, केश-सज्जा और मंच सज्जा मिलकर दृश्य को दर्शनीय बनाते हैं, जिससे दर्शक कथा में खो जाते हैं। श्रृंगार यह भी स्पष्ट करता है कि कथा किस युग और संस्कृति की है — जैसे पौराणिक पात्रों के श्रृंगार में मुकुट, शस्त्र और पारम्परिक परिधान होते हैं। लाइटिंग और श्रृंगार का समुचित समन्वय दृश्य को और भी प्रभावशाली बना देता है, जैसे नीली रोशनी में भूत पात्र का श्रृंगार अत्यधिक भयावह प्रतीत होता है। जब श्रृंगार पात्रों के स्वभाव और परिस्थितियों के अनुरूप होता है, तो दर्शक स्वयं को उस कथा का भाग महसूस करने लगते हैं। श्रृंगार मंचीय दृश्य प्रभाव का एक शक्तिशाली माध्यम है। यह केवल पात्रों की सजावट तक सीमित नहीं रहता, बल्कि दर्शकों को दृश्यतः प्रभावित करने और कथानक से बाँधकर रखने का सशक्त उपकरण सिद्ध होता है। नाट्यकला में जब श्रृंगार और दृश्य प्रभाव का सम्यक समन्वय होता है, तब रंगमंच सचमुच जीवन्त हो उठता है।

4) भावों की अभिव्यक्ति :

चेहरे पर रंग, आँखों की सजावट, भौंहों की बनावट आदि से क्रोध, प्रेम, भय जैसे भाव और अधिक स्पष्ट होते हैं। नाटक और रंगमंच का मूल उद्देश्य है-भावों की सजीव अभिव्यक्ति। अभिनेता जब मंच पर किसी पात्र की भूमिका निभाता है, तो उसके हावभाव, वेशभूषा, चेहरे के भाव और शरीर की भाषा — सभी मिलकर उस चरित्र को जीवन्त बनाते हैं। इसमें श्रृंगार (मेकअप, पोशाक, आभूषण आदि) एक अत्यन्त आवश्यक साधन होता है, जो भावाभिव्यक्ति को स्पष्ट, प्रभावी और सशक्त बनाता है। मेकअप, वेशभूषा, रंगों का प्रयोग, चेहरे की सज्जा और सम्पूर्ण दृश्य रूपान्तरण से पात्र अपने चरित्र और भावों को बेहतर ढंग से प्रस्तुत कर पाता है। जैसे प्रेम और सौन्दर्य भाव की अभिव्यक्ति के लिए कोमल रंग, हल्का गुलाबी या सुनहरा श्रृंगार, पुष्पों का प्रयोग, आभूषण और सौम्य दृष्टि का उपयोग किया जाता है। क्रोध और वीरता के लिए गाढ़े रंग, तीखी भौंहें, लाल आँखें और उभरे चेहरे की रेखाएँ प्रभावी होती हैं। करुण रस में फीका श्रृंगार, मद्धिम रोशनी, आँसू के संकेत और उदास चेहरा प्रभावी दृश्य उपस्थित करते हैं। हास्य रस को रंग-बिरंगे वस्त्रों, विचित्र हेयरस्टाइल, बड़ी मूँछों और मज़ाकिया पोशाक द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। भय के भाव को गहरे रंग, डरावना मेकअप, गढ़ेदार आँखें, उलझे बाल और चीखती मुद्रा से दर्शाया जाता है। आँखों के चारों ओर काजल, भौंहों का आकार, लिप कलर, माथे का तिलक आदि भावों की गहनता को बढ़ाते हैं। हल्के रंग कोमल भावों के लिए, गाढ़े रंग उत्साह और क्रोध के लिए तथा सफेद रंग शोक और उदासी के लिए प्रयुक्त होते हैं। सुन्दरता, समृद्धि या सादगी का प्रदर्शन भी श्रृंगार के माध्यम से किया जाता है। उचित लाइटिंग श्रृंगार को और अधिक प्रभावशाली बनाती है। श्रृंगार भावों को उभारता है और उन्हें नेत्रों द्वारा समझने योग्य बनाता है। इससे दर्शक दृश्य रूप से भावों से जुड़ पाते हैं और केवल शब्दों पर निर्भर नहीं रहते। मंच पर दूर बैठा दर्शक भी पात्र के भावों को उसके चेहरे और पोशाक से पहचान सकता है, जो केवल संवादों से सम्भव नहीं होता। श्रृंगार रंगमंच की आत्मा है। इसके माध्यम से न केवल पात्र की पहचान सम्भव होती है, बल्कि उसकी भीतरी भावनाएँ भी दर्शकों के सामने प्रकट होती हैं। श्रृंगार और भावाभिव्यक्ति का गहरा सम्बन्ध है, जो मिलकर मंच को जीवन्त, प्रभावशाली और दर्शनीय बनाते हैं।

5) भूमिका में सजीवता :

श्रृंगार कलाकार को अपने पात्र में ढालने का माध्यम है। इससे कलाकार आत्मविश्वास के साथ अभिनय करता है। नाटक रंगमंच की वह कला है जो केवल संवादों के माध्यम से नहीं, बल्कि पात्रों के हावभाव, वेशभूषा, श्रृंगार और मंचीय प्रस्तुति से सजीव बनती है। जब कोई कलाकार किसी भूमिका को निभाता है, तो उसकी सजीवता और प्रभावशीलता का प्रमुख आधार होता है, श्रृंगार। यह न केवल सौन्दर्यवर्धन का साधन है, बल्कि पात्र को जीवन्त रूप में दर्शकों के सामने प्रस्तुत करने का सशक्त उपकरण भी है। कलाकार के चेहरे, शरीर, वेशभूषा, बाल, आभूषण आदि को उसकी भूमिका के अनुकूल ढालना ताकि वह अपने चरित्र के अनुसार दिखाई दे और भावों को प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त कर सके, यही श्रृंगार का उद्देश्य होता है। श्रृंगार से दर्शक तुरन्त पहचान सकते हैं कि कलाकार कौन-सी भूमिका निभा रहा है, जैसे-रावण, विदूषक, रानी या साधु। श्रृंगार भावों की अभिव्यक्ति को उभारता है और चरित्र की विश्वसनीयता को बढ़ाता है। जब पात्र अपने यथोचित रूप में मंच पर दिखता है, तो दर्शकों को वह भूमिका प्रामाणिक लगती है। श्रृंगार से यह भी स्पष्ट होता है कि भूमिका किस युग और संस्कृति से सम्बन्धित है-पौराणिक, ऐतिहासिक या आधुनिक। श्रृंगारित रूप में कलाकार अपने अंगों और मुद्राओं से अपने चरित्र को बेहतर ढंग से प्रस्तुत करता है। चेहरे का श्रृंगार, वेशभूषा, आभूषण, सज्जा, केशविन्यास, मुखौटे और रंगों का उपयोग – ये

Edit with WPS Office

सभी तत्त्व भूमिका को सजीव बनाते हैं। श्रृंगार नाटक की आत्मा नहीं, परन्तु उसका 'मुख' अवश्य है, जो किसी भी भूमिका को केवल अभिनय नहीं, बल्कि एक सजीव अनुभव बनाता है। श्रृंगार के माध्यम से कलाकार न केवल दृश्यात्मक सौन्दर्य प्रस्तुत करता है, बल्कि दर्शकों को यह अनुभव भी कराता है कि वह वास्तव में वही पात्र है जिसकी भूमिका वह निभा रहा है। इसीलिए कहा जाता है-" श्रृंगार वह रंग है, जो रंगमंच को जीवन देता है।"

नाटक एक दृश्य कला है, जिसमें पात्रों की प्रस्तुति, अभिनय, वेशभूषा और श्रृंगार के माध्यम से कथा जीवन्त बनती है। मंच पर अभिनय करते समय किसी भी पात्र की पहली पहचान उसके रूप-सज्जा और श्रृंगार से होती है। यह श्रृंगार केवल सौन्दर्यवर्धन नहीं, बल्कि कलात्मक अभिव्यक्ति का एक अनिवार्य अंग है।

नाटक में वेशभूषा का स्वरूप एवं महत्त्व :

स्वरूप :

नाटक मंचन में वेशभूषा का महत्त्व अत्यन्त गहरा और बहुआयामी होता है। यह न केवल पात्रों की पहचान और व्यक्तित्व को उजागर करती है, बल्कि नाटक के कथानक, सन्दर्भ और भावनात्मक प्रभाव को भी मजबूत बनाती है। नाटक की सफलता में वेशभूषा एक प्रमुख तत्त्व होती है, जिसके बिना मंचन अधूरा लगता है। "पात्र, कथा, काल और स्थान के अनुसार अभिनेता को इस प्रकार सजाना कि वह मंच पर अपनी भूमिका के अनुरूप विश्वसनीय और प्रभावी लगे, उसे वेशभूषा कहते हैं।"

'वेशभूषा' शब्द दो भागों से बना है, 'वेश = पहनावा, पोशाक, वस्त्रों का रूप और भूषा = आभूषण, सजावट, अलंकरण।' अर्थात्, वेशभूषा वह सम्पूर्ण बाह्य सज्जा है जिसमें वस्त्र, आभूषण, सिर का आच्छादन, जूते, मेकअप आदि सब सम्मिलित होते हैं। यह केवल शरीर ढकने का साधन नहीं, बल्कि व्यक्ति की पहचान, सामाजिक स्थिति, संस्कृति, समय और भावनाओं को व्यक्त करने का माध्यम है।

वेशभूषा का स्वरूप विभिन्न घटकों से मिलकर बनता है, जिनमें प्रमुख वस्त्र हैं, जो वेशभूषा का मूल अंग होते हैं। इनका चुनाव पात्र की भूमिका, समय-काल, सामाजिक स्थिति, मौसम और कथा की आवश्यकता के अनुसार किया जाता है। आभूषण वेशभूषा का दूसरा महत्त्वपूर्ण घटक है। आभूषण से पात्र की सम्पन्नता, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और सौन्दर्य-बोध व्यक्त होता है। इसमें हार, कंगन, मुकुट, पायल, अँगूठी, कमरबन्द आदि शामिल हैं। 'सिर का आच्छादन' पगड़ी, मुकुट, टोपी, फेटा, हेलमेट, ताज — पात्र और स्थान-विशेष का संकेत देते हैं। पादुकाएँ जैसे कि जूते, चप्पल, सैण्डल, खड़ाऊँ आदि पात्र की सामाजिक स्थिति और समय का परिचय देती हैं।

चेहरे की बनावट बदलने, उम्र बढ़ाने-घटाने या किसी विशेष लुक देने के लिए शृंगार का उपयोग भी वेशभूषा के अन्तर्गत होता है। दाढ़ी, मूँछ, विग, नकली घाव, मास्क आदि भी वेशभूषा के स्वरूप का हिस्सा हैं। रंग और डिजाइन भी वेशभूषा के अंग हैं। रंग पात्र की मनःस्थिति और नाटक के रस के अनुरूप चुने जाते हैं, जैसे पीला शान्ति और भक्ति का प्रतीक है, तो लाल वीरता और प्रेम का प्रतीक है। सांस्कृतिक और कालगत भिन्नता जैसे प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक या भविष्यवादी; हर काल का अपना विशिष्ट वस्त्र-रूप होता है।

वेशभूषा का अर्थ केवल कपड़े पहनाना नहीं, बल्कि पात्र को दृश्य रूप में जीवन्त करना है। इसका स्वरूप वस्त्र, आभूषण, रंग, डिजाइन, मेकअप और सभी बाहरी सज्जा का सम्मिलन है। सही वेशभूषा न केवल नाटकीय वातावरण को प्रामाणिक बनाती है, बल्कि दर्शकों के मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ती है। नाटक के मंचन में वेशभूषा केवल शरीर ढकने का साधन नहीं, बल्कि पात्र की पहचान, कलात्मक तथा भावनात्मक प्रभाव और नाटकीय वातावरण का एक सशक्त माध्यम है। जैसे संवाद पात्र के विचारों को प्रकट करते हैं, वैसे ही वेशभूषा उसके व्यक्तित्व, समय, स्थान और स्थिति को बिना बोले ही दर्शक के सामने स्पष्ट कर देती है। वेशभूषा पात्रों को जीवन्त बनाती है, कथानक को गहराई देती है और दर्शकों को नाटक की दुनिया में डुबो देती है।

Edit with WPS Office

इसलिए, एक सफल मंचन के लिए वेशभूषा का सावधानीपूर्वक चयन और नियोजन आवश्यक है।

वेशभूषा का रंग प्रस्तुति में महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसके माध्यम से दर्शकों को वास्तविकता का पूर्वाभास होता है। वेशभूषा नाटक की प्रस्तुति और अभिनय की सफलता में अत्यन्त सहायक होती है। यह नाटक में चित्रित जीवन और परिवेश को निर्देशित ही नहीं करती, बल्कि रंगीन आलोक में नाट्य प्रदर्शन को प्रभावोत्पादक और सम्मोहक बनाती है। चाहे नाटक शास्त्रीय नियमावली के भीतर हो या लोक नाट्य शैली में, उच्च कोटि की साहित्यिक कृति हो या साधारण गीत नाटक, सभी में वेशभूषा, रूपविन्यास और मुख सज्जा का विशेष महत्त्व होता है। वेशभूषा से पात्रों की भूमिका, स्वभाव, उम्र, देश-काल और नाटक का प्रकार स्पष्ट होता है। आधुनिक रंगमंच में वस्त्र, आभूषण और वेशभूषा का भी प्रमुख स्थान है। कुण्डल, कवच, मुकुट, माल, करधनी, तलवार, वल्लभ, ढाल, तीर, धनुष आदि अलंकरण सभी काल में अपनी मौलिकता और उपयोगिता बनाये हुए हैं। आधुनिक हिन्दी नाटकों में स्वाभाविक वस्त्र-सज्जा की अपेक्षा लाक्षणिक, विरोधाभासी और सांकेतिक पोशाकों का अधिक उपयोग होने लगा है। यहाँ तक कि प्राचीन पात्रों को आधुनिक वस्त्रों में प्रस्तुत करके सफल रंग प्रस्तुति की गयी है। साथ ही, मुखौटा और पारम्परिक पोशाकों की जगह प्रतीकात्मक पोशाकों का भी प्रयोग बढ़ा है। किसी भी नाटक रंगकार्य में वेशभूषा तथा रूपविन्यास का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। डॉ. केदारनाथ सिंह ने इसके सन्दर्भ में लिखा है—"पात्रों के चरित्र और अस्तित्व की प्राण प्रतिष्ठा वेशभूषा से ही होती है। युग, परिवेश, वातावरण, सभ्यता, संस्कृति आदि भी इसी रंगमंचीय प्रतिमान से उजागर होते हैं। पात्रों को अपने सम्प्रदाय, वर्ग, संस्कार आदि के अनुरूप, रंगरूप, आकार, रूप-सज्जा द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। चेहरों, आँखों और बालों का विन्यास रंग प्रस्तुति में अनुकूल आकर्षण उत्पन्न करने के लिए आवश्यक होता है। वेशभूषा समय और पात्रों के अनुसार बदलती रहती है। ग्रामीण, शहरी, सुशिक्षित, अनपढ़, किसान, चपरासी, विद्यार्थी, शिक्षक, नौकरदार अधिकारी, बूढ़ा, युवा आदि पर निर्भर होती है।"

नाटक में वेशभूषा का महत्त्व :

वेशभूषा का दर्शक पर तात्कालिक प्रभाव पड़ता है। पहली नजर में ही दर्शक को पात्र का परिचय और भावनात्मक संकेत मिल जाता है। सही वेशभूषा दर्शकों को कथा में खींच लेती है, जबकि गलत वेशभूषा ध्यान भंग कर सकती है। वेशभूषा जितनी प्रामाणिक होगी, नाटक का वातावरण उतना ही वास्तविक लगेगा। ऐतिहासिक नाटकों में यह दर्शकों को समय-यात्रा जैसा अनुभव प्रदान करती है। नाट्यशास्त्र में वेशभूषा को स्थायी और संचारी भावों की अभिव्यक्ति का सहायक माना गया है। जैसे श्रृंगार रस निर्माण में कोमल रंग, रेशमी वस्त्र, आभूषण आदि का प्रयोग होता है, वहीं वीर रस में कवच, ऊँचे जूते, तलवार, प्रखर रंग आदि का प्रभावी उपयोग किया जाता है। मंच पर रंगों का सन्तुलन, आकार-प्रकार और कपड़ों की बनावट दृश्य को सौन्दर्यपूर्ण बनाते हैं। यह नाटक के सम्पूर्ण कलात्मक मूल्य को बढ़ाता है। जब कई पात्र एक साथ मंच पर हों, तब वेशभूषा उनके बीच अन्तर बनाये रखने में मदद करती है। मुख्य पात्र की पोशाक रंग, डिजाइन या आभूषणों से अलग और आकर्षक रखी जाती है।

1. पात्रों की पहचान एवं व्यक्तित्व को उजागर करना :

नाटक में वेशभूषा केवल बाहरी आभूषण या सजावट मात्र नहीं होती, बल्कि यह पात्रों की पहचान, व्यक्तित्व और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को उजागर करने का एक सशक्त माध्यम है। रंगमंच पर कोई भी पात्र संवाद के साथ-साथ अपने पहनावे द्वारा भी दर्शकों पर गहरा प्रभाव डालता है। वेशभूषा पात्रों के सामाजिक स्तर, व्यवसाय, आयु, संस्कृति और स्वभाव को दर्शाती है। मंच पर वेशभूषा देखकर दर्शक तुरन्त पहचान सकता है कि पात्र राजा है, साधु है, सैनिक है, ग्रामीण है, व्यापारी है या सामान्य नागरिक। जैसे एक राजा का आभूषणयुक्त वस्त्र, एक भिखारी का फटा हुआ कपड़ा या एक वैज्ञानिक का लैब कोट। यह दर्शकों को तुरन्त पात्र के बारे में जानकारी देती है, जिससे कहानी समझने में आसानी होती है। ऐतिहासिक नाटक में पात्रों की वेशभूषा राजसी वस्त्र, सुनहरी आभा वाला मुकुट, राजदण्ड आदि होना आवश्यक है, तो सामाजिक नाटक में साड़ी, सलवार-कमीज, कोट-पैंट जैसे दैनिक जीवन के परिधान होते हैं। पौराणिक नाटक में राम का पीताम्बर, सीता की लाल-पीली साड़ी, रावण का स्वर्ण-मुकुट और दस सिर का प्रतीक होते हैं। धार्मिक या पौराणिक नाटकों में वेशभूषा से पात्र देवता, दानव, ऋषि या साधारण मानव के रूप में तुरन्त पहचान में आ जाते हैं। वेशभूषा पात्र की आन्तरिक मानसिकता और स्वभाव का भी

Edit with WPS Office

संकेत देती है। गम्भीर और अनुशासित पात्र की पोशाक साधारण और व्यवस्थित होगी, तो हास्यप्रधान या विलासी पात्र की वेशभूषा रंगीन, चमकदार और आकर्षक हो सकती है। स्त्री पात्र का श्रृंगार, आभूषण और परिधान उसकी सामाजिक स्थिति, आयु और भावनाओं का दर्पण बन जाते हैं। वेशभूषा से यह भी स्पष्ट होता है कि नाटक किस कालखण्ड या किस संस्कृति का चित्रण कर रहा है। वेशभूषा से पात्रों का मंचीय चित्रण प्रभावशाली बनता है। यह दर्शकों को पात्रों के व्यक्तित्व से जोड़ती है और नाटक की वास्तविकता को गहराई देती है। नाटक में वेशभूषा पात्र की पहचान का दर्पण और व्यक्तित्व की जीवन्त अभिव्यक्ति है। बिना संवाद बोले ही वेशभूषा से दर्शक पात्र की स्थिति, स्वभाव और महत्त्व को समझ जाते हैं। इसलिए रंगमंच पर वेशभूषा का चुनाव सदैव नाटक की कथावस्तु, काल, संस्कृति और पात्र के व्यक्तित्व के अनुसार किया जाना चाहिए।

2) ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ को स्थापित करना :

ऐतिहासिक नाटक में वेशभूषा उस युग के परिधान, आभूषण और वस्त्र-सामग्री के अनुसार होती है। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ को स्थापित करने में वेशभूषा की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। यह न केवल व्यक्ति की पहचान, सामाजिक स्थिति और सांस्कृतिक सम्बद्धता को दर्शाती है, बल्कि इतिहास, परम्पराओं और सामाजिक मूल्यों का भी प्रतीक होती है। वेशभूषा के कारण काल-विशेष की और किसी युग, सभ्यता या राजवंश की पहचान होती है। इतिहास में वेशभूषा से जाति, वर्ग या पेशे का पता चलता था। जैसे, मध्ययुगीन भारत में ब्राह्मणों की धोती या राजपूतों का साफ़ा उनकी सामाजिक भूमिका को दर्शाते थे। भारत जैसे देश में क्षेत्रीय विशिष्टता भी वेशभूषा से प्रकट होती है। जैसे—राजस्थान का लहँगा, केरल का मुण्डू, महाराष्ट्र में महिलाओं की नौवारी साड़ी और पुरुषों की धोती-कुर्ता-फेटा आदि स्थानीय संस्कृति को दर्शाते हैं। साड़ी (हिन्दू), बुरक़ा (इस्लाम) या कैथोलिक पादरियों का कैसॉक; ये सभी धार्मिक पहचान को उजागर करते हैं। बिहू नृत्य (असम) या गरबा (गुजरात) में प्रयुक्त पारम्परिक वस्त्र सांस्कृतिक उत्सवों का अभिन्न अंग हैं। जैसे राष्ट्रीय एकता और स्वदेशी आन्दोलन में खादी ने औपनिवेशिक विरोध और स्वावलम्बन का प्रतीक बनकर भूमिका निभायी। आभूषण भी वेशभूषा का एक सशक्त अंग हैं। मंगलसूत्र, पायल जैसे आभूषण सामाजिक-पारिवारिक महत्त्व रखते हैं। वेशभूषा एक जीवित इतिहास है, जो अतीत और वर्तमान के बीच सेतु बनाती है। यह केवल सौन्दर्यबोध का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक मूल्यों, राजनीतिक विचारधाराओं और सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने का एक सशक्त साधन भी है। आज भी त्योहारों, विवाहों या राष्ट्रीय उत्सवों में पारम्परिक वस्त्र पहनकर लोग अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ते हैं। यदि नाटक किसी विशेष युग या संस्कृति पर आधारित है, तो वेशभूषा उसकी प्रामाणिकता बनाये रखने में मदद करती है, जैसे वैदिक काल में धोती-कुर्ता। गलत वेशभूषा नाटक की विश्वसनीयता को समाप्त कर सकती है।

3) भावनात्मक प्रभाव एवं दृश्यात्मक आकर्षण :

रंग, डिजाइन और सामग्री के माध्यम से वेशभूषा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पैदा करती है। जैसे कि काले रंग का उपयोग खलनायक या रहस्य के लिए, उजले रंग का उपयोग पवित्र पात्रों या शान्ति के लिए, लाल रंग का क्रोध, जुनून या शक्ति के लिए तथा उज्ज्वल रंगों का प्रयोग आनन्द, उत्सव या हास्य के लिए किया जाता है। यह दर्शकों के मन में पात्रों के प्रति भावनाएँ जगाता है। नाटक में वेशभूषा एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो न केवल पात्रों की पहचान बनाता है, बल्कि भावनात्मक प्रभाव और दृश्यात्मक आकर्षण भी उत्पन्न करता है। यह दर्शकों को नाटक के कथानक, सन्देश और पात्रों के मनोभावों से जोड़ने में सहायक होता है। वेशभूषा पात्रों की भावनाओं, सामाजिक स्थिति और मनोदशा को प्रदर्शित करती है। वस्त्रों की शैली; जैसे फटे कपड़े गरीबी और संघर्ष को, भव्य परिधान राजसी ठाठ या अहंकार को तथा सादगीपूर्ण वेश विनम्रता या आध्यात्मिकता को उद्घाटित करते हैं। वेशभूषा नाटक को आकर्षक और प्रभावशाली बनाती है।

ऐतिहासिक या सांस्कृतिक सटीकता भी वेशभूषा से प्राप्त होती है। विभिन्न पात्रों की वेशभूषा से दर्शकों को उनकी भूमिका समझने में सहायता मिलती है। नाटक में वेशभूषा कला और मनोविज्ञान का एक सजीव सम्मिश्रण है। यह नाटकीय अनुभव को गहरा, सजीव और यादगार बनाती है, जिससे दर्शकों की भावनाएँ और कल्पनाएँ जागृत होती हैं।

4. कथानक के विकास में सहायक :

Edit with WPS Office

नाटक के मंचन में वेशभूषा केवल पात्र की सजावट भर नहीं होती, बल्कि वह कथानक के विकास और उसके प्रभावी प्रस्तुतीकरण में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वेशभूषा से पात्र का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिचय तुरन्त स्पष्ट हो जाता है। किसी नाटक की कथा प्राचीन, मध्यकालीन या आधुनिक समय की है, यह वेशभूषा से झट से समझा जा सकता है, जिससे कथानक के विकास में सहजता आती है। जैसे पौराणिक नाटक में दैवी और असुरी पात्रों की भव्य पोशाक कथा को मिथकीय रंग देती है। कथानक के मोड़, नाटकीयता और विकास में वेशभूषा परिवर्तन का प्रयोग विशेष प्रभाव डालता है। जैसे नायक भिखारी या सैनिक का रूप धारण कर ले, तो कथा में रोमांच और रहस्य उत्पन्न होता है। वेशभूषा का यह परिवर्तन कहानी की गति और उसके मोड़ों को स्वाभाविक बनाता है। एक गरीब पात्र के अचानक धनी बनने पर उसके वस्त्रों में बदलाव से भी कथानक विकास सहज होता है। श्रृंगार, वीर, करुण आदि रसों की अनुभूति वेशभूषा से और गहरी होती है। नायिका का श्रृंगारिक परिधान या वीर पात्र की युद्ध वेशभूषा कथानक में भावात्मक तीव्रता को बढ़ाती है। मंचन में दर्शक वास्तविक स्थान या समय को नहीं देख सकता, लेकिन वेशभूषा कथा की परिस्थिति को विश्वसनीय बनाती है। इससे कथानक की प्रगति दर्शकों को सहज और स्वाभाविक प्रतीत होती है और दर्शक की पात्र सम्बन्धी भावना भी स्पष्ट हो जाती है। नाटक के मंचन में वेशभूषा केवल पात्र की सुन्दरता या आकर्षण का साधन नहीं, बल्कि वह कथानक के विकास की अनिवार्य और प्रभावी अंग है। यह पात्रों की पहचान, कथा की गति, काल-परिस्थिति और भावनात्मक प्रभाव को स्पष्ट करती है तथा नाटक की विषयवस्तु को जीवन्त और विश्वसनीय बनाती है।

5) दृश्य-श्रव्य माध्यमों में सन्तुलन :

नाटक मंचन में वेशभूषा का महत्त्व केवल दृश्य आकर्षण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह दृश्य-श्रव्य माध्यमों के सन्तुलन में भी एक प्रमुख भूमिका निभाती है। वेशभूषा नाटक की कथा, पात्रों के व्यक्तित्व, ऐतिहासिक या सांस्कृतिक सन्दर्भ तथा भावनात्मक प्रभाव को बढ़ाने में सहायक होती है, जिससे दर्शकों और श्रोताओं दोनों के लिए एक सामंजस्यपूर्ण अनुभव सुनिश्चित होता है।

वेशभूषा पात्रों के सामाजिक स्तर, व्यवसाय, उम्र और स्वभाव को दृश्य रूप से प्रस्तुत करती है। श्रव्य माध्यम जैसे रेडियो नाटक में यदि संवाद में वेशभूषा का उल्लेख हो जैसे वह लाल रेशमी साड़ी पहने हुए थी, तो श्रोता मानसिक रूप से एक छवि बना लेता है, जिससे कहानी अधिक जीवन्त हो जाती है। नाटक यदि किसी विशेष युग या संस्कृति पर आधारित है, तो वेशभूषा उस युग के वातावरण को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करती है। दृश्य-श्रव्य समन्वय में संगीत, ध्वनि प्रभाव और वेशभूषा मिलकर एक सहज अनुभूति पैदा करते हैं। रंग और डिजाइन द्वारा वेशभूषा पात्रों की मनोदशा को व्यक्त करती है। जैसे काला रंग शोक या रहस्य, चमकीले रंग उल्लास को दर्शाते हैं। श्रव्य माध्यम में पात्र की आवाज के साथ उसकी वेशभूषा का वर्णन श्रोता की कल्पना को भावनात्मक रूप से जोड़ता है।

संकेतात्मक भूमिका में वेशभूषा कथानक का प्रतीक बन जाती है। जैसे खून से सनी वेशभूषा अपराध-बोध को दर्शाती है। दृश्य -श्रव्य माध्यमों में ऐसे प्रतीकों का उल्लेख ध्वनि या संवाद के माध्यम से किया जा सकता है।

नाटक में संगीत, ध्वनि प्रभाव और वेशभूषा का तालमेल दर्शक को पूर्ण अनुभव प्रदान करता है। जैसे कि यदि कोई पात्र योद्धा है, तो उसकी झनकारती तलवार की आवाज और धातु से बने कवच का दृश्य मंचन को प्रभावी बनाते हैं।

वेशभूषा नाटक की दृश्य-श्रव्य एकता को स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह न केवल दृश्य आनन्द देती है, बल्कि श्रव्य माध्यमों में भी श्रोता की कल्पना शक्ति को उद्दीप्त करती है। एक सुविचारित वेश-परिकल्पना नाटक के सन्देश को अधिक प्रभावशाली और सम्पूर्ण बनाती है।

6) दर्शकों का ध्यान आकर्षित करना :

एक आकर्षक और उचित वेशभूषा दर्शकों को मंच से जोड़े रखती है। वेशभूषा वह दृश्य भाषा है जो बिना शब्दों के पात्रों की कहानी कह देती है। नाटक मंचन में वेशभूषा दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने का सबसे प्रभावी साधन मानी जाती है। पात्र का प्रथम प्रभाव वेशभूषा ही होता है। जब कोई पात्र मंच पर प्रवेश करता है तो सबसे पहले उसकी वेशभूषा ही दर्शकों की दृष्टि

Edit with WPS Office

को आकर्षित करती है। यह आकर्षण दर्शकों को पात्र और कथा से जोड़ देता है। अलग-अलग पात्रों की विशिष्ट वेशभूषा से दर्शक उन्हें तुरन्त पहचान लेते हैं। राजा, सैनिक, विदूषक, साधु, स्त्री या दैत्य प्रत्येक का परिधान दर्शकों का ध्यान खींचकर उन्हें कथा के प्रति सजग बनाये रखता है। चमकीले, गहरे या कलात्मक परिधान मंच को जीवन्त बना देते हैं। वेशभूषा में रंगों का संयोजन दर्शकों की दृष्टि को बाँधे रखता है और दृश्य को सौन्दर्यपूर्ण बनाता है। प्रसंग विशेष में वेशभूषा का परिवर्तन दर्शकों को तुरन्त आकर्षित करता है जैसे युद्ध दृश्य में योद्धा का कवच और विवाह प्रसंग में दुल्हन का श्रृंगार। इससे दर्शक भावनात्मक रूप से कथा में जुड़ जाते हैं। उचित वेशभूषा से पात्र और दृश्य स्वाभाविक लगते हैं। दर्शकों को यह विश्वास होता है कि वे जिस कथा को देख रहे हैं वह उसी काल, स्थान और समाज से जुड़ी है। यह विश्वसनीयता उनका ध्यान टिकाए रखती है। नाटक मंचन में वेशभूषा केवल सजावट का साधन नहीं बल्कि दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने और कथा से बाँधकर रखने का प्रमुख माध्यम है। यह पात्र की पहचान, नाटकीय स्थिति और भावनात्मक प्रभाव को सशक्त बनाकर रंगमंच को जीवन्त और रोचक बनाती है। कलाकार के आत्मविश्वास का आधार वेशभूषा है; जब अभिनेता सही वेशभूषा पहनता है तो वह अपने पात्र में अधिक सहजता और विश्वास से प्रवेश करता है। यह उसे पात्र की देहभाषा और आचरण अपनाने में मदद करता है।

नाटक में वेशभूषा का उपयोग केवल सौन्दर्यवृद्धि के लिए नहीं, बल्कि कथा, पात्र और भाव के साथ गहरे सामंजस्य के लिए होता है। सही वेशभूषा दर्शकों के मन में पात्र को जीवन्त कर देती है, नाटकीय वातावरण को प्रामाणिक बनाती है और भावनात्मक असर को गहरा करती है। इसलिए नाट्यनिर्माण में वेशभूषा के चयन और उपयोग को विशेष महत्त्व दिया जाता है। वेशभूषा नाटकीय अभिव्यक्ति का आवश्यक और प्रभावशाली अंग है। यह पात्र, काल, स्थान, संस्कृति और भावनाओं का दृश्य रूप दर्शकों तक पहुँचाती है। उचित वेशभूषा नाटक की कलात्मकता, विश्वसनीयता और भावनात्मक असर को कई गुना बढ़ा देती है। इसलिए नाट्यनिर्माण में वेशभूषा की योजना सावधानीपूर्वक, शोधपूर्ण और सृजनात्मक दृष्टि से करनी चाहिए।

नाटक : संगीत, ध्वनि और प्रकाश योजना

रंगमंच का उद्भव ही नाटक में से हुआ। प्रथम नाटक का स्वरूप सामने आया, तत्पश्चात् रंगमंच की आवश्यकता हुई। रंगमंच वह स्थल विशेष है, जहाँ नाटक यथावत् अभिनीत होता है। प्रेषक आनन्दातिरिक्त से विह्वल होकर झूम उठता है। नाटक का कार्य है "मैं करता हूँ", अर्थात् नाटक का पूर्णार्थ हुआ "किया हुआ काम"। कार्य की पूर्णता के लिए एक विशिष्ट स्थल आवश्यक होता है, जहाँ साधक अपने नाट्य धर्म की साधना को साकार रूप देता है। अतः इस दृष्टि से नाटक और रंगमंच का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित जान पड़ता है। रंगमंच के अभाव में वस्तुतः दृश्य नाट्य, जो प्रेक्षकों को इस दिशा तक ले जाकर रसानुभूति करा सके, सम्भव नहीं है। नाटक की सार्थकता रंगमंच पर अभिनीत कर प्रेषक तक पहुँचाने में ही है। भरतमुनि ने नाटक की उपादेयता प्रेषकों को रस-शिक्षित करने में ही मानी है। रंगमंच के जो नियम हैं, वे लौकिक होते हुए भी अलौकिक से लगते हैं। रंगमंच ने वैज्ञानिक व्यवस्था से स्वरूप और शिल्प में परिवर्तन कर ध्वनि संकेतों, प्रकाश प्रभाव और आलोक चित्रों की वैज्ञानिक योजना की है, तो दूसरी ओर रंगमंच को रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से घर-घर तक पहुँचा दिया है। ध्वनि यन्त्रों के माध्यम से प्रकृति को वाणी प्रदान कर विज्ञान ने रंगमंच और चलचित्र के बीच का अन्तर लगभग समाप्त कर दिया है।

विज्ञान के विकास के साथ अभियान्त्रिकी (स्टेज इंजीनियरिंग) का अभ्युदय हुआ, जो अभियान्त्रिकी के सामान्य नियमों पर आधारित है। दो दृश्यों के बीच त्वरित परिवर्तन की विधा की खोज ने रंग अभियान्त्रिकी को जन्म दिया। क्रमशः रंगमंच को घुमाने, आगे-पीछे करने, ऊपर-नीचे उठाने या रोलर की भाँति घुमाने की विधियाँ विकसित हुईं, और इसके साथ ही परिवामी, शकट, उद्वाह तथा रिहन्त यन्त्रों का निर्माण किया गया। साथ ही, मंच पर ध्वनि संकेत देने के लिए—ध्वनि रिकॉर्ड और टेप रिकॉर्डर के आविष्कार से पूर्व—कुछ सीमित ध्वनियाँ, जैसे मेघ गर्जन, वर्षा की ध्वनि, रेलगाड़ी के इन्जन का भाप छोड़ना या चलने का आरम्भिक स्वर, घोड़े की टाप आदि ही सुनाई जाती थीं; परन्तु अब ट्रेन, बॉक्स, टेप रिकॉर्डर आदि के माध्यम से बच्चों के रोने, कुत्तों के भौंकने, विमानों के उड़ने, सिंह की गर्जना, तोप की गड़गड़ाहट आदि किसी भी प्रकार की ध्वनि को रिकॉर्ड कर सुनाया जा सकता है। इसी प्रकार, विद्युत के आविष्कार ने प्रकाश प्रभाव (रंगदीपन) में युगान्तकारी परिवर्तन ला दिया है। नाटक, जो पहले अधिकांशतः दिन में होते थे, अब रात्रि में भी सम्भव हो गये हैं। बल्कि रात्रि में होने वाले नाटकों में प्रकाश प्रभाव का अधिक प्रभावी और सृजनात्मक उपयोग होता है। नवीन आलोक व्यवस्था द्वारा चलते हुए बादल, नक्षत्र, सूर्य और चन्द्रमा, दृष्टिगोचर जल-प्रलय, अग्निकाण्ड आदि के दृश्य सुगमता से प्रदर्शित किये जा सकते हैं।


Edit with WPS Office

व्यावसायिक रंगमंच का प्रमुख आकर्षण गीत और संगीत होता था। नाटक देखने से पहले पूछा जाता था कि गाने कैसे हैं; यदि नाटक हल्का भी हो, तो दर्शक मनपसन्द अभिनेता के किसी विशेष गीत को सुनने के लिए आते थे। साथ ही, प्रकाश योजना से भावों की अभिव्यक्ति प्रभावशाली होती है। तीन घंटे में दिन, रात या किसी मौसम का आभास केवल प्रकाश योजना से ही कराया जाता है। ध्वनि नाटक के लिए विशिष्ट माहौल का निर्माण करती है। प्राचीन काल में ध्वनि के लिए केवल तबला और हारमोनियम का प्रयोग होता था, जो प्रसंग के गम्भीर या रसपूर्ण भावों को उद्घाटित करती थी। प्रसंग के अनुसार ध्वनि बदलती थी। आज इस प्रक्रिया में काफी परिवर्तन आया है; ध्वनियों के लिए 10-12 प्रकार के उपकरणों का उपयोग होता है, जिससे वास्तविकता का अनुभव होता है। प्रकाश व्यवस्था और ध्वनि व्यवस्था एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रकाश ध्वनि के बिना प्रभावशाली नहीं होता, और ध्वनि के साथ प्रकाश व्यवस्था न होने पर अनुभव अधूरा लगता है।

वस्तुतः प्रकाश और ध्वनि योजना का सम्बन्ध रंगमंच की अभिव्यक्ति-परकता से है। ये केवल सहायक तकनीकी पक्ष नहीं हैं, बल्कि रंगमंच की आत्मा हैं। प्रकाश और ध्वनि के सृजनात्मक उपयोग से न केवल मंच पर स्थित दृश्य विधान रंग-परिवेश के रूप में साकार होते हैं, बल्कि नाटक की घटनाएँ और उसकी विशिष्टता भी प्रभावशाली रूप में उभरती हैं। रंगमंच पर नाटक को प्रभावी ढंग से स्थापित करने में ध्वनि-प्रकाश योजना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। साथ ही, ये रंग-प्रस्तुति को अधिक आकर्षक, स्वाभाविक और सम्मोहक बनाने में सहायक होते हैं। पात्रों के मनोभावों को प्रदर्शित करने की दृष्टि से भी ध्वनि और संगीत योजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। मनुष्य के मन में निरन्तर विविध मनोभाव उत्पन्न होते रहते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का प्रयोग किया जाता है।

आज वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से विभिन्न ध्वनि प्रभाव निर्मित कर प्रेक्षकों को प्रभावित किया जा सकता है। लाउडस्पीकर, टेप रिकॉर्डर, माइक्रोफोन आदि के माध्यम से वायुयान, मोटरयान, आँधी का चलना, पक्षियों का कलरव, शिशु रोदन, रेलगाड़ी, भीड़, वर्षा, जुलूस और नारों जैसी ध्वनियों को नेपथ्य में प्रस्तुत किया जाता है। इन साधनों के द्वारा स्वतन्त्र दृश्य योजनाएँ भी सम्भव हो पायी हैं। इसके अतिरिक्त, अंक परिवर्तन के समय दृश्य के अन्तराल में संगीत-ध्वनियों के माध्यम से मनोहारी वातावरण की रचना की जाती है।

सारतः कहा जा सकता है कि रंगमंच की दृष्टि से ध्वनि एवं संगीत योजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। रंगमंच की दृश्य सज्जा में प्रकाश व्यवस्था का विशेष स्थान होता है। इसके माध्यम से नाटक की घटनाएँ, स्थल, वस्तुएँ, पात्र, उनके क्रियाकलाप तथा मनोभाव आदि को प्रभावशाली दृश्य रूप प्रदान किया जाता है। प्रकाश व्यवस्था द्वारा रंगमंचीय नाट्य विधान को सुगठित और सम्मोहक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। आजकल दृश्य संचालन का कार्य भी प्रायः प्रकाश व्यवस्था से ही किया जाने लगा है। रंगीन प्रकाश व्यवस्था के माध्यम से पात्रों की रूप-सज्जा और भाव-प्रवणता को भी अभिव्यक्त किया जाता है। अतः नाटककार और निर्देशक दोनों के लिए रंग-विज्ञान और प्रकाश कला की समझ आवश्यक हो जाती है। अन्ततः विद्युत प्रकाश की उपलब्धि ने प्रकाश योजना को रंगमंच का एक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया है। निस्संदेह, नाटक के पात्रों, स्थलों, मनोभावों और घटनाओं को प्रभावी ढंग से उजागर कर नाट्य सौन्दर्य में वृद्धि करने में प्रकाश व्यवस्था की भूमिका अत्यन्त उपयोगी और निर्णायक होती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न :

टिप्पणी लिखिए

नाटक और रंगमंच का अंतर्संबंध: नाटक और रंगमंच एक-दूसरे के पूरक कैसे हैं तथा नाटक को 'पुनर्प्रस्तुतिमूलक विधा' क्यों माना जाता है, इस पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

नाटक मंचन में श्रृंगार का स्वरूप: नाट्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में श्रृंगार के विभिन्न प्रकारों तथा उसके मंचीय उद्देश्य पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

श्रृंगार द्वारा पात्र की पहचान: मंच पर पात्र के रूप, स्वभाव, वर्ग और मानसिक स्थिति को उभारने में श्रृंगार की

Edit with WPS Office

भूमिका पर टिप्पणी कीजिए।

श्रृंगार के माध्यम से काल और संस्कृति का संकेत: नाटक मंचन में विभिन्न युगों (प्राचीन, मध्यकालीन, आधुनिक) एवं क्षेत्रीय संस्कृतियों को दर्शाने में श्रृंगार किस प्रकार सहायक है, इस पर प्रकाश डालिए।

नाटक में वेशभूषा की परिभाषा एवं प्रमुख घटक: 'वेश' और 'भूषा' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वेशभूषा के प्रमुख अंगों (वस्त्र, आभूषण, सिर का आच्छादन, पादुकाएँ) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

वेशभूषा द्वारा पात्रों के व्यक्तित्व का उद्घाटन: पात्र के सामाजिक स्तर, व्यवसाय, आयु तथा मानसिकता को प्रकट करने में वेशभूषा के महत्त्व पर टिप्पणी लिखिए।

कथानक के विकास में वेशभूषा की भूमिका: नाटक की कथा के उतार-चढ़ाव, गति और मोड़ों को स्वाभाविक बनाने में वेशभूषा परिवर्तन के प्रभाव पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

दृश्य-श्रव्य माध्यमों के संतुलन में वेशभूषा का योगदान: मंच और रेडियो जैसे दृश्य-श्रव्य माध्यमों में वेशभूषा किस प्रकार श्रोताओं और दर्शकों के अनुभव को सजीव बनाती है, इस पर टिप्पणी लिखिए।

रंगमंच पर प्रकाश योजना (रंगदीपन) का महत्त्व: तीन घंटे के मंचन में दिन-रात, मौसम, घटनाओं और पात्रों के मनोभावों को सजीव करने में प्रकाश व्यवस्था की भूमिका पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

नाटक में ध्वनि एवं संगीत योजना की भूमिका: आधुनिक तकनीकी उपकरणों के माध्यम से नेपथ्य ध्वनि प्रभावों और संगीत द्वारा वातावरण निर्माण पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

दीर्घोत्तरी प्रश्न :

नाटक और रंगमंच के अंतर्संबंध: "नाटक और रंगमंच परस्पर पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं।" इस कथन के आलोक में नाटक के पुनर्प्रस्तुतिमूलक स्वरूप, उसके विभिन्न घटकों (लेखन, निर्देशन, अभिनय) तथा रंगमंच पर इनके समन्वित प्रभाव का सविस्तार विश्लेषण कीजिए।

नाट्य मंचन में श्रृंगार का स्वरूप एवं बहुआयामी महत्त्व: नाट्यशास्त्र के अनुसार 'श्रृंगार' की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए पात्र की पहचान, काल-संस्कृति के बोध, दृश्य प्रभाव, भावाभिव्यक्ति तथा भूमिका में सजीवता लाने में इसकी भूमिका का विस्तृत विवेचन कीजिए।

नाटक में वेशभूषा की संकल्पना, घटक एवं उपयोगिता: वेशभूषा के प्रमुख तत्वों (वस्त्र, आभूषण, शिरोभूषा, पादुकाएँ आदि) का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिए कि वेशभूषा किस प्रकार कथानक के विकास, पात्रों के मनोवैज्ञानिक पक्ष के प्रकटीकरण और दृश्य-श्रव्य माध्यमों के संतुलन में सहायक होती है।

आधुनिक रंगमंच में तकनीकी विकास (ध्वनि, संगीत और प्रकाश योजना): रंगमंच पर वैज्ञानिक आविष्कारों और 'स्टेज इंजीनियरिंग' के प्रभाव की समीक्षा करते हुए स्पष्ट कीजिए कि ध्वनि, संगीत तथा प्रकाश व्यवस्था किस प्रकार वातावरण निर्माण, दृश्य संचालन और

Edit with WPS Office

नाट्य प्रस्तुति को जीवंत बनाने में निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

Edit with WPS Office